सूरजमुखी के फूल

राजेन्द्र किशोर

किताब महल [होलसेल डिविज़न] प्राइवेट लिमिटेड
रजिस्टर्ड आफिस :—५६ ए, ज़ीरो रोड, इलाहाबाद
कलकत्ता ● बम्बई ● दिल्ली ● जयपुर ● हैदराबाद ● पटना

• प्रकाशक
किताब महल
५६ ए, ज़ीरोरोड,
इलाहाबाद

●

आवरण शिल्पी
एम. इस्माईल

●

आवृत्ति : प्रथम १८८३ शकाब्द
मूल्य : तीन रुपए

●

मुद्रक
पियरलेस प्रिन्टर्स, इलाहाबाद

●

आवरण मुद्रक
ईगल ऑफसेट प्रिन्टर्स,
१५, थार्नहिल रोड,
इलाहाबाद

वक्तव्य

पिछले कहानी-संग्रह **'ओ मत्स्यगंधा'** की तरह इस संग्रह में भी कहानियों को रचना-क्रम के अनुसार रखा गया है। इस संग्रह की अनेक कहानियों का उत्तर तथा दक्षिण भारत की कई भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। इसकी मुझे विशेष प्रसन्नता है।

हरेन्द्र भवन,
सलेमपुर,
छपरा (बिहार)

राजेन्द्र किशोर

गंगा

गाँव में ठीक मेरे मकान के सामने एक बहुत पुराना पीपल का पेड़ है। लोगों का कहना है, उस पर भूतों का निवास है। शाम हुई नहीं कि उस पेड़ के तले से होकर लोगों का आना-जाना बंद हुआ। जहाँ तक मेरी याददाश्त काम दे रही है, मेरी चौबीस साल की ज़िन्दगी में एक दिन भी ऐसा नहीं आया, जब कि मैंने अपने मकान पर दिन ढलने के बाद किसी आदमी को आते-जाते देखा हो। हाँ, गंगा अवश्य आती-जाती रहती है। जाने क्यों, सारे गाँव में एक उसे ही पीपल के भूतों का डर नहीं लगता।

एक रात, जब सभी सो गये और गंगा मेरे सिरहाने बैठी राजा नरसेन की कहानी कहती रही, मैंने बीच ही में एकाएक टोकते हुए सवाल किया—"गंगा, तुझे भूतों से डर नहीं लगता?"

इस अप्रत्याशित प्रश्न से गंगा घबरा गई। किन्तु पलक मारते ही, जैसे मेरे प्रश्न का अर्थ समझते हुए, उसने एक विचित्र-सा उत्तर दिया—"नहीं भैया, भूत-परेत से काहे का डर? और फिर, अपने ही गाँव का भूत। पराया थोड़े ही होगा? कोई अपना ही होगा न? भैया तब अपनों से काहे का डर? और यों भी वह मुझे क्यों सताने लगा? अपनों को कोई सताता है? या ज़्यादा-से-ज़्यादा यही होगा न कि वह मुझे मार डालेगा; लेकिन मैं तो खुद ही मर जाना चाहती हूँ। इन चालीस वर्षों में मैंने जितना दुख सहा है, उतना दुख लेकर कोई भी जीना पसंद नहीं करेगा।" मैंने देखा, अपना कथन समाप्त करते-न-करते गंगा की आँखें छलछला आईं और गला रुँध गया! वह राजा नरसेन की कहानी अधूरी ही छोड़कर उठी और चली गई। ऐसा वह अक्सर करती है; किन्तु मैं उसे खींच लाता हूँ। उसे कहानी पूरी करनी

पड़ती है और जब जाने लगती है तो उसके चेहरे पर एक विचित्र आह्लाद चमक उठता है। कभी-कभी वह जाते-जाते दरवाज़े पर रुक जाती है और एक अजीब बेचैनीभरी निगाह से मुझे देखते हुए कह जाती है—"भैया, तू बड़ा अच्छा है। भगवान् तुझ-जैसा बेटा सबको दे।"

मैं उसके इस चिरपरिचित वाक्य का अर्थ समझता भी हूँ और नहीं भी समझता।

इसी तरह फिर एक रात को खा-पी चुकने के बाद गंगा मेरे कमरे में आई। मैं खिड़की के पास चुपचाप अँधेरे में भी अपने अस्तित्व की घोषणा करने वाले उसी पीपल के पेड़ को देख रहा था। यह मुझे मालूम हो गया कि गंगा कमरे में आ गई है, फिर भी मैंने पीपल के पेड़ पर से अपनी निगाह नहीं हटाई।

गंगा कुछ देर चुपचाप यों ही कमरे मे खड़ी रही। शायद मेरे चारपाई पर लेट जाने की प्रतीक्षा करती रही। मगर जब मैं खिड़की पर से नहीं हटा तो उससे नहीं रहा गया। उसने टोंक ही दिया—"आज राजा नरसेन की कहानी नहीं सुनेगा क्या?"

चाहता था कहना—"नहीं!" मगर भीतर से जाने कौन बोल गया—"हाँ!"

"तो चारपाई पर लेट क्यों नहीं जाता?" गंगा ने अजीब हैरानी के साथ कहा—"देख, तेरा चेहरा भी मुझे उतरा हुआ लगता है। मुझे लगता है कि तेरी तबीयत ठीक नहीं है। आ, बेटा, लेट जा।"

मैं एक आज्ञाकारी बालक की तरह बिना कुछ कहे-सुने चारपाई पर लेट गया। गंगा ने मेरे सिरहाने बैठकर कहना शुरू किया—"और राजा नरसेन ने गौरेये से सवाल किया—मगर इस दाल के टुकड़े का राज़ क्या है?"

मैंने यहीं बीच में टोक दिया—"सुन गङ्गा, तू मुझे बहुत मानती है न?"

गङ्गा ने शायद मेरे इस प्रश्न का अर्थ नहीं समझा। वह फटी-फटी आँखों से मुझे देखती रह गई।

"बताती क्यों नहीं, गङ्गा? तू मुझे बहुत प्यार करती है न?" मैंने उठकर बैठते हुए फिर सवाल किया।

गङ्गा ने प्रश्न का अर्थ न समझते हुए भी स्वीकृति में सिर हिला दिया।

"तो सुन, मुझे केवल इतना बता दे कि तुझे पीपल के भूतों से डर क्यों नहीं लगता?" मैंने आवाज़ को कुछ और भी तेज़ करते हुए कहा।

गङ्गा ने सुना और हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुई। कुछ देर तक खड़ी-खड़ी मुझे समझने का प्रयास करती रही, फिर जैसे प्रयास में असफल होकर वह वहाँ से भाग जाने को हुई, मगर दरवाज़े पर जाकर रुक गई। मैंने गौर किया, उसकी आँखों से आँसू की धार बह चली थी। कुछ देर तक दरवाज़े पर यों ही खड़ी रहने के बाद उसने एक अजीब हैरानीभरे स्वर में कहा—"भैया, तू मुझे इतना दुःख क्यों देता है?" और चली गई। मैंने उसे पुकारना चाहा, मगर पुकार न सका। आवाज़ जैसे गले के भीतर ही टूट गई।

कब मुझे नींद आ गई, पता नहीं।

सुबह उठा तो एक विचित्र-सा अनुभव हो रहा था। नित्य कर्म से निवृत्त होकर ताऊजी के पास जा उपस्थित हुआ।

"मैं भैया के यहाँ जाऊँगा।" मैंने ताऊजी का ध्यान अपनी ओर खींचते हुए कहा।

"भैया के यहाँ? अच्छा। मगर दो दिन और रुकेगा नहीं? परसों त्योहार है। फिर चला जाता।" ताऊजी ने कागज़ात पर से नज़र उठाकर मुझ पर डालते हुए कहा।

"नहीं! यहाँ मेरी बिल्कुल तबीयत नहीं लगती। मैं आज शाम की ही गाड़ी से जाऊँगा।" मैंने कहा।

ताऊजी ने कहा—"अच्छा।" और फिर अपने काम में उलझ गये।

मैं अपने कमरे में लौट आया। ज़ोर से गङ्गा को हाँक दी। गङ्गा आई। मैंने उसकी ओर बिना देखे ही कहा—"देख, मेरा सामान बाँध दे। मैं शाम की गाड़ी से भैया के यहाँ जाऊँगा।"

गङ्गा ने कहा—"अच्छा।" और सामान ठीक-ठाक करने में लग गई।

★ ★ ★

भाभी मुझे देख कर आश्चर्यचकित रह गई। मुझसे पूछा—"यह बिना किसी पूर्व सूचना के यकायक कैसे पहुँच गये?"

"क्यों?" मैंने सूटकेस को ज़मीन पर रखते हुए कहा—"मेरा आना अच्छा नहीं लगा क्या? लौट जाऊ?"

भाभी ने हँसते हुए कहा—"हूँ। आजकल बातों का मतलब तो खूब समझते हो।"

मैं भी खिलखिला कर हँस पड़ा।

भाभी ने टोका—"मुँह-हाथ नहीं धोना है क्या? या बस हँसते रहोगे?"

"जरूर धोऊँगा भाभी, जरूर धोऊँगा।" मैंने सूटकेस से तौलिया निकालते हुए कहा और गुसलखाने की ओर बढ़ गया।

लौटा तो देखा, भाभी मेरा बिस्तर खोलकर बिछा रही थीं। वहीं पास की टेबुल पर एक तश्तरी में समोसे रखे हुए थे। मैं समोसों पर टूट पड़ा।

खाते-खाते मैंने भाभी से पूछा—"भैया और बच्चे नज़र नहीं आते, भाभी?"

भाभी ने हाथ से चादर की सलवटों को ठीक करते हुए कहा—"भैया को तो जानते ही हो, घूमने का रोग है। मित्रों के साथ काश्मीर

चले गये हैं। बब्बू और शीला को उनके मामा बुलाने आये थे, भेज दिया। बस, मीनी रह गई है।"

मैं अभी भाभी से पूछना ही चाहता था कि अकेले तुम्हारा जी नहीं ऊब जाता कि बगल के कमरे से मीनी के रोने की आवाज़ आई और भाभी चली गईं।

मैं बिस्तर पर लेट गया। रात भर गाड़ी में जगे रहने के कारण जोरों की नींद आ रही थी।

सोकर उठा तो कोई बारह बज रहे थे। जल्दी से भाभी से माँग कर खाना खाया और कुछ दोस्त-मित्रों से मिलने निकल पड़ा।

रात को कोई नौ बजे लौटा। भाभी मीनी को लिए बाहर बरामदे में टहल रही थीं। मुझे देखते ही बोलीं—"बड़ी देर कर दी लाला, कहाँ निकल गये थे?"

"यों ही। कुछ दोस्त-मित्रों से मिलने चला गया था।" मैंने बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए कहा—"मगर अब चलो न भाभी, मेरा मुँह क्या देख रही हो? मुझे बड़ी भूख लगी है।"

भाभी ने कहा—"हूँ" और मीनो को चूमते-पुचकारते मेरे साथ-साथ अन्दर की ओर चल पड़ीं।

खाना लाकर रखते हुए भाभी ने पूछा—"घर पर तो सभी मजे में हैं न, लाला?"

मैंने कहा—"हाँ।"

खा-पीकर मैं बिस्तर पर पड़ रहा। बगल के कमरे में भाभी मीनी को सुलाने चली गईं।

यकायक मैं चौंक कर उठ बैठा। भाभी मीनी से कह रही थीं—"राजा नरसेन ने गौरैये से पूछा—तब तू मुझे इतना मानती है, इतना प्यार करती है, तब बता क्यों नहीं देती कि दाल के इस टुकड़े के पीछे कौन-सा राज़ है?"

भाभी कहे जा रही थीं—"गौरैये ने कहा—सुन राजा, मैंने आज तक तुझसे कुछ नहीं छिपाया है, मगर..."

मैं आवेश में आकर चिल्ला उठा—"मगर...?"

भाभी दौड़कर कमरे से बाहर आ गईं। मुझे इस क़दर परेशान देखकर बड़ी हैरानी के साथ सवाल किया—"क्या हुआ, लाला ?"

"कुछ नहीं भाभी, कुछ नहीं !" मैंने भाभी के सवाल को टालते हुए कहा—"यों ही। तुम्हारी कहानी से मैं कुछ ऐसा अभिभूत हो गया था कि अपने को न सँभाल सका।"

भाभी ने सुनकर मुस्करा दिया। बोलीं—"तुम्हारा बचपना अभी तक नहीं गया।"

फिर खामोशी छा गई।

थोड़ी देर बाद भाभी ने जैसे मेरे जगे होने का एहसास करते हुए कहा—"कुछ बातें क्यों नहीं करते ?"

"कैसी बातें ?" मैंने कहा।

भाभी ने पूछा—"अच्छा, आजकल गंगा कैसी है ?"

"गंगा ?" इस अप्रत्याशित प्रश्न से चौंकते हुए मैंने कहा।

"हाँ, गंगा।" भाभी ने बड़ी धीमी आवाज़ में कहा—"बेचारी गंगा की ज़िन्दगी भी अजीब रही है।"

"क्यों ?" मैंने भाभी के इस कथन से उत्पन्न अपनी जिज्ञासा को भरसक दबाते हुए पूछा।

"बेचारी के दो-दो बच्चे सयाने हो-हो कर चल बसे।"

"हूँ।" मैंने भाभी के उत्तर से निराश होते हुए कहा।

"अच्छा, वह सामने वाला पीपल का पेड़ अभी है या कटवा दिया गया ?" भाभी ने करवट बदलते हुए सवाल किया।

"क्यों ? है तो।" मैंने भाभी के इस बेतुके सवाल से हैरान होकर पूछा।

"यो ही। ताऊजी आये थे न, तो कहते थे कि वह उसे कटवा

देना चाहते हैं, लेकिन गंगा उसे कटवाने नहीं देती।" भाभी ने कहा।

मैं चौंक कर उठ बैठा—"क्यों, गंगा उसे क्यों नहीं कटवाने देती? और ताऊजी ने तो मुझसे कभी नहीं कहा।"

"नहीं। वह नहीं कहेंगे। उन्हें गंगा का बड़ा खयाल रहता है न।"

थोड़ी देर के लिए फिर खामोशी छा गई।

यकायक भाभी भी उठ बैठीं।

"एक बात जानते हो, लाला? जाने क्यों गंगा को विश्वास है कि उस पीपल के पेड़ पर उसके पहले बच्चे की आत्मा रहती है।"

मैंने आश्चर्यचकित होकर भाभी को देखते हुए पूछा—"यह तुम्हें कैसे मालूम हुआ? गंगा ने तो आज तक किसी को भी नहीं बताया है।"

"हाँ।" भाभी ने आहिस्ता-आहिस्ता कहना शुरू किया—"पाँच-सात साल पहले की बात है। एक दिन गाँव में ठीक मेरे कमरे के बगल में गंगा अपने दूसरे सतरह-अठारह साल के जवान बेटे के साथ सो रही थी। यकायक आधी रात को मेरी नींद टूट गई। मुझे बड़ा भय मालूम हुआ। मुझे लगा कि ठीक मेरे कमरे के बगल में कोई किसी से रो-रोकर कुछ कह रहा है। काफी देर बाद गौर करने पर मुझे पता चला कि गंगा अपने बेटे से कुछ रो-रोकर कह रही थी।"

"क्या कह रही थी?" मैंने अपनी काँपती आवाज़ को भरसक सँभाल कर पूछा।

"सारी बातें तो मुझे याद नहीं। हाँ, आज तक मेरे कानों में उसकी वह पंक्ति गूँजती रहती है—देख, उस पीपल का पत्ता न तोड़ा कर। उस पर तेरे भाई की आत्मा रहती है। उसे कितना दुःख होता होगा भला!"

फिर जैसे इस पंक्ति की अंतर्निहित भयानकता से भाभी स्तब्ध रह

गईं। मेरे मुँह से भी कोई शब्द नहीं निकल पा रहा था। दोनों आमने-सामने बैठे हुए एक-दूसरे को आतंकित निगाहों से देख रहे थे।

थोड़ी देर बाद भाभी ने लेटते हुए टूटती आवाज़ में कहा—"और जानते हो, लाला? उस दिन ग़जब हो गया। सबेरे यकायक किसी के चीख-चीख कर रोने की आवाज से मेरी नींद टूट गई। दौड़कर कमरे से बाहर निकल कर देखती हूँ कि गंगा अपने उस जवान बेटे की लाश गोद में लिए चिल्ला-चिल्ला कर रो रही है और सभी उसे ढाढ़स बँधाने में लगे हैं। पूछने पर मालूम हुआ कि घंटे भर पहले जब दोनों सो रहे थे, जाने कहाँ से एक साँप ने आकर डस लिया।"

भाभी जैसे एक झटके के साथ अपने स्वर से टूटीं और चुप हो गईं। मुझे लगा कि मेरे अस्तित्व में एक भयानक स्थिरता आ गई।

थोड़ी देर बाद मैंने महसूस किया—भाभी सो गईं। लेकिन मुझे नींद नहीं आई। मैं आकाश की ओर देखते हुए भाभी की बातों का रहस्य समझने का प्रयास करता रहा। गंगा के दूसरे लड़के की मौत जिस वक़्त हुई थी, उस वक़्त मैं भी उपस्थित था। लेकिन भाभी के कथन का कुछ और ही अर्थ मालूम होता है। भाभी आखिर कहना क्या चाहती हैं?

दूर कहीं तीन का घंटा बजा। अभी भी नींद मेरी आँखों से सैकड़ों योजन दूर थी। मैंने करवट बदली और गंगा की कथा से अपने को झिटक कर सोने का प्रयास करने लगा।

मगर, तभी जाने कैसे मीनी की नींद टूट गई। वह उठ बैठी और भाभी की देह को झँझोर-झँझोर कर रोने लगी। भाभी ने ऊँघते हाथों से मीनी को पकड़ा और छाती से लगाकर थपकियाँ देने लगीं; किन्तु मीनी ने जैसे रोने की कसम खा ली थी। बस "लाजा नतछेन, लाजा नतछेन" की रट लगाये जा रही थी।

मैंने करवट बदलते हुए भाभी से पूछा—"यह लाजा नतछेन क्या बला है, भाभी?"

भाभी की नींद अब करीब-करीब टूट गई थी। बोलीं—"क्या पूछते हो, लाला ? परेशान हो गई हूँ। दिन में कोई सौ बार राजा नरसेन की कहानी सुनानी पड़ती है, फिर भी इसका जी नहीं भरता।"

मैंने अँगड़ाई लेते हुए किंचित हास्य के साथ कहा—"तो सुना दो न। क्या जाने उससे मुझे भी नींद आ जाय।"

थोड़ी देर खामोश रहने के बाद एक विचित्र लय में भाभी ने मीनी के कपाल पर थपकियाँ देते हुए राजा नरसेन की कहानी शुरू कर दी—"गौरैये ने कहा—सुन राजा, मैंने आज तक तुझसे कुछ नहीं छिपाया है। मगर इतनी कृपा मुझ पर कर कि इस दाल के टुकड़े का राज़ मुझसे मत पूछ।"

उधर मीनी, इधर मैंने हुँकारी भरी।

भाभी ने आगे कहा—"मगर राजा ने जिद पकड़ ली। कहा—नहीं तुझे बताना ही होगा, तुझे मेरी कसम !"

उधर मीनी, इधर मैंने हुँकारी भरी।

भाभी ने क़िस्से को आगे बढ़ाया—"गौरैये ने राजा की बात सुनी और चीख उठी—"राजा, तू मुझे मार डाल, मगर अपनी कसम मत दे। मैं मर जाऊँगी, मगर तुझे इसका राज़ नहीं बताऊँगी, कभी नहीं बताऊँगी। मैंने जिस किसी को इसका राज़ बताया है, वह दुनिया से उठ गया है।"

उधर मीनी ने हुँकारी भरी, इधर मेरे सारे बदन में बिजली कौंध गई। मैं झोंके से उठा और भाभी का बदन झँझोरते हुए चिल्ला उठा—"बन्द कर दो भाभी, यह कहानी बन्द कर दो !"

भाभी घबरा कर उठ बैठीं—"क्यों ? क्या हुआ ? अभी तो कहानी सुनाने को कहते थे।"

"हाँ, मगर अब बन्द कर दो।" मैंने बुरी तरह हाँफते हुए कहा—"नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगा।"

भाभी उठ खड़ी हुईं। मुझे लाकर लिटाते हुए कहा—"कैसे पगले हो तुम ? तुम्हारी कोई भी बात आज तक मेरी समझ में नहीं आई।"

मैंने भाभी की बात का कोई उत्तर नहीं दिया। बस, चुपचाप लेट गया। भाभी की गर्म कोमल अँगुलियाँ मेरी कनपटियों पर धीरे-धीरे रेंग चलीं। उस स्नेहकातर स्पर्श से मुझे लगा कि मैं फिर एक नन्हें-से शिशु में परिवर्तित हो गया हूँ।"

भाभी ने माँ के स्वर में कहा—"सो जाओ।"

मैंने धीरे से कहा—"अच्छा" और आँखें मूँद लीं।

अव्याख्येय

शाम ढल चली थी और मुन्ना अभी पड़ोस के पल्टू के यहाँ से खेल कर लौटा नहीं था। मैं उसे पुकारने के लिए उठने ही वाला था कि सीढ़ियों पर उसके क़दमों की आहट सुन पड़ी। मैं चुपचाप बैठा उसके ऊपर आ जाने का इंतज़ार करता रहा। थोड़ी देर इंतज़ार करने के बाद भी जब वह नहीं आया, तो मैंने आवाज़ दी। उसने कोई जवाब नहीं दिया, बस दरवाज़े से बढ़कर पाए की ओट में सहमा-सा खड़ा हो गया। मुझे उसके इस डरे-सहमे ढँग से थोड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैं उसका पिता ही नहीं, मित्र भी हूँ। मैंने उसे उत्साहित करने के लिए बड़े प्यार से जिज्ञासा की—"क्या बात है, मुन्ना?"

उसने फिर कोई जवाब नहीं दिया। बस, अपनी झुकी आँखें ऊपर उठा कर पल भर मुझे देखता रहा, फिर पीछे मुड़ कर सीढ़ियो की ओर देखने लगा। मन-ही-मन तनिक और आश्चर्य का अनुभव करते हुए रहस्य को समझने के उद्देश्य से मैंने भी उधर देखा और सारी स्थिति मुझे स्पष्ट हो गयी। वहाँ ठीक दरवाज़े के पास एक कुत्ते का नन्हा-सा बच्चा खड़ा टुकुर-टुकुर मेरी ही ओर देख रहा था। वह बड़ा खूबसूरत-सा, प्यारा-सा लग रहा था और मुन्ना सहमी आँखों से कभी मुझे और कभी उसे देख रहा था। मैंने उठ कर आगे बढ़ कर कुत्ते के बच्चे को उठा कर गोद में ले लिया और मुन्ने को अँगुली पकड़कर उसे अपने पास लाकर बिठाते हुए स्वर में और अधिक प्यार घोलते हुए कहा—"बड़ा प्यारा है रे, किसका है?"

मेरे स्वर से आश्वस्त हो कर मुन्ने का डर करीब-करीब मिट चुका था। उसने आवेश में आकर उठ कर मेरी गोद में बैठते हुए एक

बार कुत्ते के बच्चे के गुदगुदे रोएँदार बदन को छुआ और बड़े उत्साह-भरे स्वर में बोला—"पापा, मैं इसे रखूँगा।"

अभी तक यह समस्या मेरे दिमाग में नहीं आयी थी। मुन्ने के इस प्रस्ताव से इसके रखने-पालने की समस्या के साथ-साथ शीला की तस्वीर भी आँखों में तिर आयी। मैं जानता था, शीला की नज़र ज्योंही इस कुत्ते के बच्चे पर पड़ेगी, क्या होगा। मैंने मुन्ने की ओर देखा। उसने मेरी गोद से कुत्ते के बच्चे को उठा कर अपनी गोद में रख लिया था और बड़े प्यार से उसका बदन सहला रहा था। मुझे अपना बचपन याद आ गया और मन-ही-मन शीला से डरते हुए भी उसके प्रस्ताव को अस्वीकृत न कर सका। मैंने कहा—"अच्छा रख लो।"

मुझसे स्वीकृति पाकर मुन्ना बहुत खुश हुआ। कुछ देर तक वह अपनी खुशी से चमकती आँखों से मुझे एकटक देखता रहा, फिर सहसा अतिरिक्त प्रसन्नता के आवेग से उछल कर मेरी गोद से उतर गया और अपनी नयी उपलब्धि दिखाने के लिए मेरे पुकारते रहने पर भी अपनी माँ को पुकारते हुए रसोईघर की ओर दौड़ गया।

मुझे मालूम था, इसका नतीजा क्या होगा। इसीलिए, मैंने उसे रोकना चाहा था। शीला मुन्ने की पुकार सुन कर बड़ी देर से बछड़े से बिछुड़ी गाय की तरह रसोईघर से दौड़ कर निकली और उसे उठा कर गोद में लेने ही वाली थी कि उसकी नजर उस कुत्ते के बच्चे पर पड़ी और वह रुक गयी। किंचित् रोषभरे स्वर में उसने प्रश्न किया—"इसे कहाँ से उठा लाया है, रे?"

मुन्ने ने उस सवाल की अहमियत को नहीं समझा। वैसे ही प्रसन्नताभरे स्वर में बोला—'माँ, माँ, पापा ने कहा है, मैं इसे रखूँगा।'

'शीला ने वहीं से क्रुद्ध आँखों से एक बार मेरी ओर देखा और

क्षण भर चुपचाप कुछ सोचते रहने के बाद मुन्ने से बोली—"छिः, छिः, अच्छे लड़के कुत्ते नहीं पालते।"

मुन्ना ने सुना और अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोलते हुए माँ की ओर देखा और उनकी उस नसीहत का अर्थ समझने की कोशिश की। लेकिन, शायद, उसका अर्थ उसकी समझ में नहीं आया। उसने ठुनकते हुए कहा—"नहीं, मैं पालूँगा।"

मैंने दूर से ही बैठे-बैठे यह लक्ष्य किया कि मुन्ने की इस जिद्द से शीला को प्रसन्नता नहीं हुई, क्योंकि उसने फिर एक बार मेरी ओर क्रुद्ध आँखों से देखा और मुन्ने से बोली—"कहना मानते हैं बेटा, अच्छे लड़के कुत्ते नहीं पालते।"

मगर मुन्ने पर उस कुत्ते के बच्चे का जादू हो गया था। उसने वैसे ही ज़िद्दभरे स्वर में ठुनकते हुए कहा—"नहीं माँ, पापा ने कहा है, मैं इसे पालूँगा।"

अब मेरे ख़ामोश बैठे रहने का अर्थ था मुन्ने का पिट जाना। मैं उठ खड़ा हुआ। निकट जाकर मैंने बड़े मुलायम शब्दों में शीला से कहा—"जाने भी दो, बच्चा है न, एक-दो दिनों में खुद ही उसका जी भर जाएगा।"

शीला गुस्से में थी। उसने मेरी ओर क्रुद्ध आँखों से देखते हुए कहा—"बस, तुम चुप रहो जी, तुमने ही इसका मिजाज़ ख़राब कर रखा है। मैंने एक बार कह दिया कि यह नहीं रहेगा, तो नहीं रहेगा।"

मैंने समझाने की कोशिश की। कहा—"तुम भी बच्चों की तरह ज़िद्द पर उतर आती हो। कुत्ते का वह नन्हा-सा बच्चा हमारी कौन-सी गृहस्थी नष्ट कर देगा? चुल्लू भर दूध पिएगा और मुन्ने के साथ खेलेगा।"

शीला का पारा उतरने के बजाय और चढ़ गया। सामान्य से कुछ ऊँचे स्वर में बोली—"कान खोल कर सुन लो, मैं तुम्हारी एक न

सुनूँगी। मुझे जानवरों से बड़ी नफ़रत है। फिर, जब वह सारा घर गंदा करेगा तो तुम तो साफ करने आओगे नहीं।"

मुझे शीला की इस बेतुकी और बेमानी ज़िद से गुस्सा आने लगा था। फिर भी, मुन्ने का ख्याल करते हुए मैंने एक बार उसे फिर समझाने की कोशिश की। मैंने कहा—"कैसी बातें करती हो? मुन्ने का तो ख्याल करो। कुत्ते को जबर्दस्ती निकलवा दोगी तो बेचारे का दिल टूट जाएगा।"

शीला पर जब ज़िद्द का भूत सवार हो जाता है, उतरने का नाम नहीं लेता। उस पर मेरे समझाने का कोई असर नहीं हुआ। बल्कि उसने चिढ़ कर और भी अधिक गुस्से में आकर करीब-करीब गरजते हुए कहा—"हाँ, हाँ, मुन्ने के दिल का खयाल है, उसका दिल टूट जाएगा, मगर कुत्ते के रहने से मेरा दिल नहीं टूटेगा! क्यों?" कहकर वह जोर-जोर से पाँव पटकती रसोईघर में चली गयी।

मैंने मन-ही-मन तय किया, मुन्ने ही को समझाना होगा। यह तय कर मुड़ कर देखा, तो वह वहाँ नहीं था। उसे पुकारते-ढूँढ़ते हुए मैंने दूसरी ओर की छत पर जा कर देखा कि वह उस कुत्ते के बच्चे को गोद में लिए जमीन पर बैठा अकेले फूट-फूट कर रो रहा था। मुझे उसकी निरीहता को देखते हुए शीला की बेमानी ज़िद्द पर बहुत गुस्सा आया। यह भी क्या कि वह अपने इकलौते बच्चे के लिए इतना-सा भी त्याग नहीं कर सकती? मगर मुझे मालूम था, उसे समझाना बेकार होगा। क्षण भर सोच-विचार कर मैंने तय किया और मुन्ने को समझाने के लिए वहीं उसके पास ज़मीन पर बैठ गया।

प्यार से उसकी पीठ थपथपाते हुए मैंने पुकारा—"मुन्ना!"

उसने कोई उत्तर नहीं दिया। उसी तरह कुत्ते के बच्चे को गोद में लिए सिसक-सिसक कर रोता रहा। मैंने समझाने की कोशिश की—"इसे जाने दे बेटा, हम इससे भी अच्छा ढूँढ़ कर ले आएँगे।"

मुन्ने पर इसका कोई असर नहीं हुआ। उसने कुत्ते के बच्चे को और भी जोर से अपने शरीर से चिपका लिया और रोता रहा। मैंने फिर समझाने की कोशिश की—"छिः, अच्छे लड़के रोया नहीं करते, कहना मानते हैं।"

उसने फिर कोई जवाब नहीं दिया। मुझे शीला के तेज़ और भारी कदमों की आवाज़ सुन पड़ी। मैंने मन-ही-मन किंचित् आतंक का अनुभव करते हुए फिर उसे समझाने के खयाल से कुछ कहना ही चाहा था कि यकायक आकर शीला हमारे पास खड़ी हो गयी। गुस्से से करीब-करीब चीखती हुई-सी मुन्ने से बोली—"तू इसे लौटा आएगा या मैं उठा कर फेंक दूँ ?"

मुझे शीला पर बहुत गुस्सा आया। मैं इसके लिए तैयार नहीं था। मैंने मुन्ने की ओर देखा। वह माँ के क्रोधाविष्ट कर्कश स्वर से आतंकित कुत्ते के बच्चे को गोद में लिए खड़ा हो गया था और मेरी ओर निरीह आँखों से देखते हुए वैसे ही फफक-फफक कर रो रहा था। शीला क्रोध से भवानी बनी खड़ी थी और किसी भी क्षण कुछ भी कर सकती थी। मैंने एक बार फिर मुन्ने को समझाने की कोशिश की—"देखो, देखो, अच्छे लड़के ज़िद्द नहीं करते, कहना मानते हैं।"

मगर वह यह सब समझने के लिए तैयार नहीं था। उसने कुत्ते के बच्चे को और जोर से अपनी बाँहों में दबाते हुए एक बड़ी निरीह दृष्टि मुझ पर डाली और बड़ी मुश्किल से सिसकी से टूटते हुए स्वर में बोला—"नहीं, पापा......"

मुन्ने का कथन अभी समाप्त भी न हो पाया था कि मुझे जिसका डर था, वही हो गया। शीला ने आगे बढ़ कर मुन्ने को जोर का एक तमाचा जड़ दिया और उसकी बाँहों से कुत्ते के बच्चे को छीन कर जमीन पर ज़ोर से उछाल कर फेंकते हुए फिर लपक कर मुन्ने को पीटने के लिए ज़ोर-ज़ोर से रोते हुए आगे बढ़ी।

अब मुझसे चुपचाप बैठा न रहा गया। मैंने उठ कर खड़े होते

हुए शीला को पकड़ते हुए ज़ोर से डाँटा—"यह क्या बेवकूफी कर रही हो ?"

शीला पर जैसे भूत सवार हो गया था। उसने ज़ोर से मुझे एक झटका दिया और मेरे बंधन से छूट कर झपट कर मुन्ने के पास पहुँची और लगातार उसे कई तमाचे जड़ दिए। अब मुझे भी गुस्सा आ गया। मैंने आगे बढ़ कर उसे बाँह से पकड़ कर खींचते हुए कमरे में ला कर एक हल्के धक्के के साथ पलंग पर बिठा दिया। कुत्ते का बच्चा वेग से उछाले जाने के कारण गिर कर ज़ोर-ज़ोर से महीन आवाज़ में चीख रहा था। मैंने कमरे से बाहर आ कर उसे उठा लिया और उसे लिए तेजी से सीढ़ियाँ उतर गया। उसे बाहर छोड़ आकर मैंने सीढ़ियों का दरवाज़ा बन्द कर दिया और चुपचाप अपनी जगह पर जा कर बैठ गया। मुन्ना कमरे के उस ओर के बरामदे पर बैठा वैसे ही ज़ोर-ज़ोर से फूट-फूट कर रो रहा था और अन्दर कमरे से शीला के सिसकने की आवाज़ आ रही थी। मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। मैं चुपचाप बैठा सोचता रहा। रात काफी गहरी हो आयी थी और हर ओर बड़ा गहरा अँधेरा फैल गया था।

सोचते-सोचते कितना वक्त बीत गया, पता नहीं चला। मुन्ने का रोना अब थम गया था और शायद रोते-रोते शीला भी पलंग पर सो गयी थी। मैंने एक नज़र चारों ओर देखा और अँधेरे से ऊब कर बरामदे की बत्ती जलाने के लिए उठा, मगर दो-चार क़दम ही गया होऊँगा कि सहसा सीढ़ियों के दरवाज़े के पास कुत्ते के बच्चे के महीन आवाज़ में किकियाने से चौंक कर मेरे पाँव रुक गये।

मेरे बदन में भय और चिंता की एक नयी झुरझुरी-सी दौड़ गयी। मैंने लपक कर बत्ती जला दी और कुत्ते के बच्चे को उठा कर फिर बाहर रख आने के लिए आगे बढ़ने ही वाला था कि ठगा-सा रह

गया। कुत्ते की आवाज़ सुनकर मुन्ना आँखें मलते दौड़ा आया था और मुझे देख कर दरवाज़े से कुछ दूरी पर सहम कर खड़ा हो गया था। मैंने मन-ही-मन और भी भय और चिंता का अनुभव करते हुए घबरा कर मुड़ कर कमरे की ओर देखा और मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। शीला उठ आ कर कमरे के चौखटे पर बैठी थी और मुन्ने की ओर देख कर हल्के मुस्करा रही थी। मैं वैसे ही चुपचाप खड़ा रहा। मानव-मनोविज्ञान की इस विचित्रता से मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए।

कुत्ते का बच्चा अब भी दरवाज़े के पास किकिया रहा था। सम्भवतः मेरी दशा को भाँप कर शीला खिलखिला कर हँस पड़ी और मुझे और अधिक आश्चर्यचकित करते हुए मुन्ने से बोली—"जा, जा, उठा ला बेचारे को। शायद भूख से रो रहा है।"

एक तोते की कहानी

मेरे दोस्त नरसिंह ने एक खूबसूरत-सा तोता पाल रखा है और उस खूबसूरत-से तोते के कारण हमारी दोस्ती खतरे में पड़ गई है। मैं हूँ, जो इस बात पर तुला हूँ कि किसी-न-किसी तरह एक दिन पिंजरा खोलकर उस तोते को जरूर उड़ा दूँगा और नरसिंह है, जिसने इस बात का एलान कर रखा है कि जिस दिन ऐसा होगा, वह मुझे लोगों के देखते-देखते स्वर्ग की सीढ़ियाँ चढ़ा देगा।

ऐसा क्यों है, यह मुझे मालूम नहीं। सिद्धान्ततः मैं यह मानता हूँ कि जैसे नरसिंह को गाय, घोड़ा या कुत्ता पालने का अधिकार है, वैसे ही उसे तोता पालने का भी अधिकार है। और, जैसा कि मुझे मालूम है, सिद्धान्ततः नरसिंह भी यह मानता है कि जैसे मुझे दोस्ती का फ़र्ज़ अदा करते हुए उसे किसी खाई-खंदक में गिरने से रोकने का अधिकार है, उसके होठों से लगी जलती हुई सिगरेट छीनकर फेंक देने का अधिकार है, वैसे ही मुझे, इस नाचीज़ तोते को भी उड़ा देने का अधिकार है। फिर भी हमारी दोस्ती खतरे में पड़ी है।

यह नहीं कि हमने अपनी दोस्ती को इस खतरे से निकालने की कोशिश नहीं की है। मैंने रोज़ सुबह उठते ही सबसे पहले मन-ही-मन यही तय किया है कि अब से मैं तोते के लिए अपने मन में मुहब्बत पैदा करूँगा और रोज़ शाम को नरसिंह ने मुझे इसकी सूचना दी है कि वह अगली सुबह उस तोते को ज़रूर उड़ा देगा। मगर हुआ यह है कि इस निश्चय के कारण हमारे मन में एक दूसरे के लिए बेइन्तिहा मुहब्बत पैदा हो गई है और हमने एक दूसरे का ख्याल करते हुए एक दूसरे को ऐसा करने से मना कर दिया है। काश, ये सुबहें रह जातीं, ये शामें रह जातीं! ऐसा नहीं होता। रात शुरू होती

है और बिला वजह यकायक तोता हमारी वर्षों की आदर्श दोस्ती के दर्मियान आ जाता है।

आज भी यही हुआ। शाम को जब मैं सुबह के अपने नेक इरादे के मुताबिक तोते के लिए अपने मन में बेइन्तिहा मुहब्बत लिए दफ़्तर से लौट रहा था, अचानक नरसिंह से मुलाकात हो गई। मिलते ही नरसिंह की आँखों में खुशी की एक लहर-सी दौड़ गई और उसने बताया कि अब वह मेरी एक न सुनेगा और इस क़ीमती दोस्ती के लिए वह कल सुबह उठते ही तोते को उड़ा देगा। नरसिंह के चेहरे से कुछ ऐसी भावुकता, कुछ ऐसी मुहब्बत झलक रही थी कि मैं मन-ही-मन अपने को अपराधी महसूस करने लगा। मैंने नरसिंह को सम्हालते हुए आविष्ट स्वर में कहा—"यार, तोता क्या चीज़ है! बड़ी चीज़ है अपनी यह दोस्ती। यह बरकरार रहे, हमें और कुछ नहीं चाहिए। मगर तुम ऐसा न करना, उस तोते को न उड़ा देना। ऐसा भी क्या कि हम दोस्ती के लिए एक छोटी-सी कुर्बानी नहीं कर सकते!......और अब तो उस तोते के लिये मेरे मन में भी मुहब्बत पैदा हो गई है। तुम्हारे लिए मैं हर हालत कुबूल कर सकता हूँ, एक नाचीज़ तोते को कुबूल नहीं कर सकता क्या?"

नरसिंह ने सुना और सहसा आवेश में आकर मुझे अपनी बाँहों में भर लिया। बड़ी देर तक वैसे ही मुझे बाँहों में लिए खामोश खड़ा रहा, ऐसा लगता था कि भावना के आवेग से उसका कंठ अवरुद्ध हो गया है। बड़ी देर बाद किसी तरह अपने को वश में करते हुए उसने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"यार, तुम भी मुझे इस क़दर खुदगर्ज़ समझोगे, यह मैं कभी सपने में भी नहीं सोच सकता था। तुम्हारे लिए मैं अपनी जान दे सकता हूँ, एक नाचीज़ तोते को अपने घर से उड़ा नहीं सकता? न, अब मैं तुम्हारी एक न सुनूँगा। इससे हमारी दोस्ती खतरे में पड़ गई है। बस, एक रात और—आज की रात। कल सुबह उस तोते को मैं ज़रूर उड़ा दूँगा।"

जाने नरसिंह के शब्दों में क्या था कि मेरी आँखें भर आईं और कंठ में आवाज़ रुँध-सी गई। मैंने कहना चाहा कि न, आज मैंने सचमुच अपने मन को समझा लिया है, आज सचमुच मेरे मन में उस तोते के लिए मुहब्बत पैदा हो गई है, मगर मैं कुछ कह न सका। चुपचाप भरी-छलछलायी आँखों से नरसिंह को देखता रहा, जिसकी आँखों से ढुलक कर आँसू कपोलों पर आ गए थे।

पता नहीं, कितनी देर हम इसी तरह एक दूसरे को खामोश निगाहों से देखते सड़क पर खड़े रहे। सूरज डूब गया और शाम की हल्की उदासी हमारे चारों ओर घिरने लगी। स्कूलों, कॉलेजों, दफ़्तरों से लौटनेवालों के कदम और उतावले हो गए और हमारे लिए उस सड़क पर यों एक दूसरे को खामोश निगाहों से देखते हुए खड़े रहना मुश्किल हो गया।

यकायक नरसिंह ने मुझे फिर अपनी बाँहों में भर लिया और भर्राई हुई आवाज़ में कहा—"सुनो, उस तोते के साथ आज मेरी आखिरी रात है। आज की रात तुम मेरे यहाँ ज़रूर आना और खाना भी तुम्हें मेरे ही यहाँ खाना होगा।" और इसके पहले कि मैं उसे आश्वस्त कर सकूँ, धीरज बँधा सकूँ और तोते के लिए अपने मन मैं पैदा हुई मुहब्बत का यकीन करा सकूँ, उसने मुझे बाँहों से मुक्त करते हुए बड़ी व्याकुल दृष्टि से देखा और अपनी आँखों से ढुलक पड़ने वाले आँसुओं को पोंछते हुए तेज़ क़दमों से एक ओर चल दिया। मैं थोड़ी देर तक वैसे ही खड़ा-खड़ा नरसिंह को जाते हुए देखता रहा, फिर धीमे क़दमों से घर की ओर चल पड़ा। घर में हर कोशिश के बावजूद तबीयत लगाए न लगी। जाने कैसी उदासी हर पल मुझमें भरती जा रही थी। माँ को नरसिंह के यहाँ के निमंत्रण की बात बताकर मैं घर से निकल पड़ा।

जब मैंने नरसिंह के कमरे में प्रवेश किया, वह और दिनों की तरह तोते के पिंजरे को अपनी जाँघ पर रखे दीवाल की ओर मुँह

किए ध्यानमग्न ज़मीन पर बैठा हुआ था। मैंने देखा और उसके प्रति सहसा अतिरिक्त सहानुभूति का अनुभव करते हुए बड़े प्यार से धीमे-हल्के स्वर में आवाज़ दी—"नरसिंह यार !"

जवाब नहीं मिला। ऐसा लगा कि उसके कानो तक मेरी आवाज़ पहुँची ही नहीं। मैंने उसकी उस तल्लीनता को भंग न करने का निश्चय करते हुए उसके बिस्तर पर बिखरे सामान को एक ओर हटा दिया और बैठते हुए उस पर रखा उसी दिन का अख़बार उठाकर पढ़ने की कोशिश करने लगा।

लगभग दो घंटे बीत गए। कमरे में फैली खामोशी और एक अजीब-सी मनहूसत से मेरा दम घुटता हुआ-सा मालूम हुआ और मुझे इस बात का डर हो आया कि अगर यही हालत बनी रही तो मेरे मन में पैदा हुई तोते के प्रति मुहब्बत और नरसिंह के प्रति अतिरिक्त सहानुभूति यकायक झुँझलाहट और गुस्से में बदल जायगी। यही सोचकर मैंने फिर नरसिंह को आवाज़ दी, मगर फिर मेरी आवाज़ सिर्फ कमरे में इधर-उधर गूँज कर रह गई, उसके कानों तक नहीं पहुँची। वह उसी तरह तोते के पिंजरे को अपनी जाँघ पर रखे दीवाल की ओर मुँह किए ध्यानमग्न ज़मीन पर बैठा रहा।

मैं फिर थोड़ी देर नरसिंह के मुखातिब होने का इन्तज़ार करता रहा, मगर उसकी तल्लीनता भंग नहीं हुई। अब मुझे उसकी यह तल्लीनता एक हद तक बदतमीज़ी-सी लगने लगी और मेरे दिमाग़ में आहिस्ता-आहिस्ता झुँझलाहट की लहरें उठने लगीं। मुझसे अब और यों खामोश बैठा न रहा गया। मैंने उठते हुए एक बार फिर उसे आवाज़ दी और जब फिर कोई जवाब न मिला, गुस्से से झपट कर उसकी जाँघ पर से तोते का पिंजरा उठा लिया।

जैसे बिजली छू गई हो, वह हड़बड़ा कर उठ खड़ा हुआ और आँखों से गुस्से की लपटें निकालते हुए मुझे एकटक देखता रहा। उसके शरीर का एक-एक अंग आवेश से काँप रहा था। तोते का

पिंजरा मेरे हाथ में लटक रहा था और उसके अन्दर जैसे-जैसे तोते की बेचैनी बढ़ती चली जा रही थी, एक दूसरे के खिलाफ हमारे मन में बेतरह गुस्सा भरता चला जा रहा था। थोड़ी देर तक हम इसी तरह एक दूसरे के सामने ख़ामोश खड़े रहे, फिर यकायक नरसिंह ने झपट कर मेरे हाथ से तोते का पिंजरा छीन लिया और पल भर ख़ामोश रहकर यकायक बड़े ज़ोर से चिल्लाया—"मैं तुझे मार डालूँगा!"

मैं अब तक किसी तरह अपने गुस्से को काबू में किये था। अब न रहा गया। मैंने अपनी गुस्से से बँधी मुट्ठियों को उठा कर हवा में बेतरह कँपाते हुए कहा—"ज़बान सम्हाल कर बोल। मुमकिन है, तुझसे पहले मैं ही यह काम कर बैठूँ। तूने मुझे अपने घर बुलाया था। मैं यह बेइज्ज़ती नहीं सह सकता। मैं कुत्ता नहीं हूँ।"

नरसिंह ने सुना और जैसे गुस्से की एक और तेज़ लहर उसके सारे बदन में दौड़ गई। उसने दाँत पीसते हुए चिल्लाहट की-सी आवाज़ में कहा—"तू मुझे कुत्ता कहता है? यानी मैं कुत्ता हूँ? नीच, मैं तेरा गला घोंट दूँगा।"

मुझे लगा कि मैं आपे से बाहर हो जाऊँगा। फिर भी किसी तरह अपने को काबू में करते हुए मैंने कहा—"मैं ग़लत कहता हूँ, झूठ बोलता हूँ? जो मिस रजनी कपूर के बरामदे पर सिर्फ़ उसे एक नज़र देखने के लिए दिन-दिन भर बैठा रहता था, जो मिस रजनी कपूर के कुत्ते को सिर्फ़ उसकी एक सहानुभूतिपूर्ण मुस्कान के लिए घंटों ठकर सहलाता रहता था, वह कुत्ता नहीं है तो क्या है?"

बात साफ़ थी और गहरे चोट करने के लिए कही गई थी। नरसिंह सुनकर तिलमिला उठा। तोते के पिंजरे को ज़मीन पर धीरे से रखते हुए काँपती हुई, फटी हुई आवाज़ में गरजते हुए बोला—"हाँ, हाँ, यह तू न कहेगा तो कहेगा कौन? मैं ही लान्ड्री में मिस रजनी कपूर के कपड़े धुलवाने ले जाता था और वह भी इसलिए कि

उसके उतारे कपड़ों से उसके बदन की बू का मजा लेने का मौका मिलता था। मैं ही मिस रजनी कपूर की ड्रेसिंग टेबल का आईना साफ़ किया करता था, वेणी में पिरोए फूलों की सूखी-झरी पँखुरियाँ चुनने में अपने कई घंटे गँवा देता था और वह भी सिर्फ़ इसलिए कि उसका यह सब देखकर, दुत्कारभरे स्वर में "माई डियर पेट" कहना बड़ा अच्छा लगता था ?"

अब मेरे लिए और बरदाश्त करना मुश्किल हो गया। मैंने आगे बढ़ कर उसकी क़मीज का कॉलर पकड़ते हुए गुस्से से लड़खड़ाती आवाज़ में कहा—"मैं तुझे मार डालूँगा। मिस रजनी कपूर मुझे प्यार करती थी और तू मुझे कुत्ता कहता है।"

नरसिंह भी आपे से बाहर हो गया। उसने मेरे सिर के बालों को पकड़कर खींचते हुए और भी ज़ोर से चिल्लाकर कहा—"छोड़ दे मेरी कमीज़ का कॉलर। आज अनहोना हो जाएगा। तू मुझसे ही उड़ता है। मिस रजनी कपूर ज़रूर तुझे प्यार करती थी, क्योंकि उसने तेरे नाम पर एक तोता पाल रखा था !"

मैंने उसकी कमीज़ का कॉलर छोड़ दिया, मगर और भी ऊँची आवाज़ में कहा—"उसने तेरे नाम पर एक कुत्ता पाल रखा था, मेरे नाम पर तोता नहीं और यहाँ से जाते वक्त़ उसने तेरे नाम पर पाला हुआ वह कुत्ता मेरे यहाँ भिजवा दिया था।"

"झूठ, बिलकुल झूठा !" नरसिंह ने मेरी ओर लाल-लाल आँखों से देखते हुए दाँत पीसते हुए कहा—"जाते वक्त़ वह सिर्फ़ तेरे नाम पर पाला हुआ यह तोता और मेरे नाम एक छोटा-सा खत अपने मकान के बरामदे पर छोड़ गई थी।"

"खत छोड़ गई थी ?"—मैंने व्यंग्य करते हुए कहा और मेरे हाथ फिर उसकी कमीज के कॉलर की ओर बढ़ते हुए मालूम हुए। गुस्से से जैसे मेरे बदन में आग-सी लग गई थी। मैंने दाँत किटकिटाते हुए सवाल किया—"क्या लिखा था उस खत में ?"

नरसिंह ने कोई जवाब नहीं दिया। खामोश, वैसे ही जलती आँखों से मुझे देखता रहा। मेरा गुस्सा अब आसमान पर चढ़ने लगा था और रह-रह कर जी में होता था कि उसका गला पकड़कर घोंट दूँ। मगर तभी यकायक नरसिंह की जलती हुई आँखें बुझती हुई-सी मालूम हुईं और वह थर्रा कर ज़मीन पर बैठ गया और काँपती-भर्राई हुई आवाज़ में बोला—"लिखा था—मैं सिर्फ तुम्हें प्यार करती थी, यह तोता उसका सबूत है।"

सुनकर पल भर मैं ठगा-सा रह गया। अब कहने-सुनने को क्या रह गया था? नरसिंह फूट-फूटकर रो रहा था। मैं चुपके से बाहर निकला और बोझिल कदमों से अपने घर की ओर चल पड़ा। मिस रजनी कपूर ने वह कुत्ता मेरे घर भिजवाते हुए मेरे नाम भी एक छोटा-सा खत लिखा था कि वह सिर्फ़ मुझे प्यार करती थी।

जोड़ने वाली सिसकियाँ

कपिल को लगा कि उसके मन में घनी होती हुई उदासी और कमरे में जमते हुए अँधेरे को चीरती हुई किन्हीं हल्के-कोमल पाँवों की आहट आ कर उसे बेध गयी। उसने बड़ी बेचैनी का अनुभव किया, उसने अनुभव किया कि वह आहट सप्रयास लायी हुई मन की प्रशांति को चीर कर बहुत गहरे चुभती चली गयी। उसने अपनी जुड़ी पलकों को व्यथामिश्रित विवशता से खोलते हुए उस आहट को चीन्हने-देखने की कोशिश की। कोई नहीं था, भ्रम था। मात्र भ्रम था। जाने कैसी निराशा का अनुभव उसे हुआ। उसने अनुभव किया कि वह भ्रम, जो अभी हल्के-कोमल पाँवों की आहट के रूप में उसे छल गया है, दृश्य तो नहीं है किन्तु उसके स्वप्नवाही व्यक्तित्व को आद्योपांत कसता जा रहा है।

देर तक कपिल उस अँधेरे को देखता रहा और मकान के अणु-अणु में व्याप्त स्तब्धता से पराजित, हतोत्साहित चुपचाप पड़ा रहा। उससे इतना भी न हो सका कि शाम की इस निर्जन, उदास खामोशी को कमरे का बल्ब जला कर तनिक झंकृत कर दे। नौकर बाज़ार चला गया था और जया टीपू के साथ घूमने चली गयी थी।

जया ने आ कर कमरे का बल्ब जलाया, तो कपिल को एक झटका-सा लगा। रोशनी की उन लहरों ने उसे सहसा व्याकुल कर दिया। वह जैसे उस रोशनी को झेलने के लिए तैयार नहीं था। इसलिए जब सहसा कमरे में रोशनी की लहरें फैल गयीं तो उसने मन-ही-मन जाने कैसे एक निष्कासन का अनुभव किया। उसने अनुभव किया कि रोशनी की लहरों ने सहसा आक्रमण-भाव से आ कर उसे उसके ही अस्तित्व से निष्कासित कर दिया। वह उठ कर बैठ

गया। उसने रोज़ की तरह यह देखना चाहा कि किसी बेहद खूबसूरत और क़ीमती रेशमी साड़ी में गोरी-छरहरी, बड़ी-बड़ी कल्पना-डूबी आँखों वाली जया आश्चर्य से उसकी ओर देख रही है और टीपू उसके दाहिने हाथ की अँगुली पकड़े खड़ा है कि वह क्या करे। लेकिन कोशिश के बावजूद उसे यह नहीं दीखा। वह चुपचाप कमरे से बाहर निकल आया और आँगन में पड़ी चारपाई पर लेट गया।

जया ने कपड़े बदले, टीपू को अँग्रेज़ी वर्णमाला की खूबसूरत चित्रों वाली किताब दे कर पढ़ने को बिठा दिया और कपिल के निकट आकर बैठते हुए बेहद मरूँ आवाज़ में सवाल किया—"तुम्हें घर में यों पड़े रहना अच्छा लगता है?"

कपिल को लगा, जैसे यह किसी मृतात्मा की आवाज़ हो और बहुत दूर से आ रही हो और जैसे इसका अर्थ उसकी समझ में नहीं आ रहा हो। उसने कोई उत्तर नहीं दिया, किन्तु भय की एक झुर-झुरी उसके सारे शरीर में दौड़ गयी। जया ने थोड़ी देर तक उत्तर की प्रतिक्षा की, किन्तु जब कोई उत्तर नहीं मिला, एक गहरी अँगड़ाई लेती हुई उठी और कमरे में जा कर लेट गयी।

कपिल वैसे ही आँगन में पड़ा रहा। जया खामोश कमरे में लेटी रही। टीपू वर्णमाला की पुस्तक से उलझा रहा।

रात को दस बजे के लगभग कपिल ने उठ कर स्नान किया। कमरे में रोशनी जल रही थी और टीपू वर्णमाला की किताब हाथ में लिये बिना खाये-पीये जया की छाती पर सिर टेके सो गया था। रसोईघर से बर्तनों के खनकने की आवाज़ आ रही थी और यह इस बात की स्पष्ट सूचना थी कि अभी भी खाना तैयार नहीं हुआ था। उसके जी में हुआ कि वह जया को पुकार कर जगा दे, मगर उसके मुख से झाँकती हुई निश्चित नींद से प्रभावित हो कर उसने कमरे की रोशनी गुल कर दी और फिर आ कर आँगन में लेट गया।

लेटे-लेटे सहसा कपिल का जी भर आया और उसकी आँखें

गीली हो आयीं। पाँच वर्षों की इस संक्षिप्त अवधि में स्तब्धता और निष्क्रियता का कैसा अथाह पारावार उसके जीवन में भर गया था। और आज के इस क्षण-विशेष में उसके मन में एक विचित्र-सी वैराग्य की अनुभूति जग रही थी। वह आकांक्षित शिशु मिथ्या लग रहा था, जिसने कुल तीन साल पहले उसके निर्गुण व्यक्तित्व में पिता का विशेषणत्व उत्पन्न किया था, वह गोरी-छरहरी खूबसूरत-सी पढ़ी-लिखी पत्नी मिथ्या लग रही थी, जिसने कुल पाँच साल पहले उसके संश्लेष में आ कर सहसा उसे अनेक दिशाओं में प्रेरित कर दिया था। वह प्रीति, वह प्रीतिमुख सपना, वह संजीवनी, जो उसके व्यक्तित्व से प्रवाहित हो कर उसके परिवेश को सिंचित-संचेतित कर जाती थी, जाने कहाँ चुक गयी थी और जाने एक कैसा अनमनापन उसके सारे अस्तित्व को डस गया था।

बड़ी देर तक वैसे ही पड़े-पड़े कपिल आकाश में टिमटिमाते हुए तारों को देखता रहा और मन की इस अभिभूत दशा में तरह-तरह की बातें सोचता रहा। सोचता रहा कि ऐसा क्यों होता है कि कभी किसी का आकांक्षित तत्सम रूप उपलब्ध नहीं होता।

सहसा कमरे में फैले अँधेरे से तिर कर आयी हुई जया के उठ कर बैठने की आवाज़ से कपिल के सोचने की कड़ी टूट गयी। आँगन में पड़े-पड़े ही प्रकाश के फैलने से कपिल ने यह जान लिया कि जया ने उठ कर कमरे की रोशनी जला दी है। एक बार उसका जी हुआ कि वह उठे और नौकर को पुकार कर खाना लाने को कह दे मगर वह उठा नहीं, उसी तरह आकाश मे टिमटिमाते तारों पर आँखें टिकाए पडा रहा।

हल्के होते हुए 'कॉस्मेटिक्स' की गंध से तनिक देर बाद कपिल ने यह जाना कि जया उसके बहुत क़रीब आ कर खड़ी हो गयी है। उसने अपनी खुली आँखों को बंद हो जाने दिया। जया थोड़ी देर तक खड़ी रह कर यह भाँप लेने के बाद कि वह सोया नहीं है, सिर्फ

बाँहों को ललाट और आँखों के बीच टिका कर सोने का बहाना किये पड़ा है, धीमे से उसके सिरहाने बैठ गयी और तनिक प्रतीक्षा करके ललाट और आँखों के बीच टिकी उसकी बाँह को हलके छूते हुए प्रेमपूर्वक भर्राये हुए स्वर में पूछा—"तुम मुझसे बोलते क्यों नहीं ?"

कपिल को जया का बिना बुलाये स्वयं ही यों उठ कर आना, उसके आने से साँसों में एक परिचित-सी स्त्रैण गंध का छा जाना, फिर उसका सिरहाने चुपचाप खड़ी रहना, बैठ जाना और उसके तृषित मन की प्रीति-स्निग्ध स्वर से तृप्त करते हुए हलके छूना बड़ा अच्छा लग रहा था। उसके मन की दशा में बड़े वेग से परिवर्तन उपस्थित हो रहा था। उसके मन में हो रहा था कि वह जया को खींच कर अपने आश्लेष में ले ले और प्यार से उसके कपोलों को थपथपाते हुए कहे कि जया, जया, तुम मुझे अपनी प्रीति से संदीपित करती हो, अपनी उदासी, जीवन के प्रति अपनी निराश-नीरस संवेदनाओं से मेरी रक्षा क्यों नहीं कर सकतीं, उनसे मुझे डस क्यों जाती हो ? किन्तु तभी जया के उस प्रश्न ने फिर उसके मन की दशा बदल दी और उसके कंठ मे उत्पन्न होती हुई माधुरी सहसा कर्कशता मे परिवर्तित हो गयी। उसने सूखे कंठ से कहा—"बोलो, क्या बोलूँ ?"

जया ने सुना, कुछ कहने को हुई, किन्तु क्षणभर पूर्व कपिल के कंठ से ध्वनित कर्कशता से प्रायः स्तब्ध बैठी रही। उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था कि अनुकूल बनाने की प्रक्रिया में क्यों प्रत्येक सप्रयास आमंत्रित प्रीति-क्षण प्रतिकूल हो जाता है। अभी क्षण-भर पूर्व कमरे में अकेली पड़ी-पड़ी उसने जिस कातरता का अनुभव किया था, कपिल के प्रति जिस सवेग संपृक्ति का अनुभव किया था, वह जैसे टूटती-बिखरती-सी लगी। वह चुपचाप बैठी रही। कपिल चुपचाप लेटा रहा।

नौकर ने आकर टोका। खाना तैयार हो गया था और अब ज़रूरत से ज़्यादा देर हो रही थी। जया ने उठते हुए नौकर से कहा—

"पहले दूध दे जाओ।" और क्षण भर खड़ी-खड़ी कपिल की उस एकांत स्थिरता को विस्मित आँखों से देखती रहने के बाद कमरे में लौट गयी।

कपिल ने जैसे उसका आना अनुभव किया था, वैसे ही स्थिर पड़े-पड़े उसका जाना अनुभव किया। उसे आज कुछ विचित्र-सा लगा। यह तो रोज़ की बात हो गयी है। जया का ऐसे आना और ऐसे ही फिर कमरे में लौट जाना नयी घटना नहीं है, फिर भी कपिल को कुछ विचित्र-सा लगा। उसे आश्चर्य हुआ कि आज जब वह लौटकर अपने कमरे मे गयी, तो मन-ही-मन पीड़ित होने के बजाय उसने एक प्रकार के सुख का अनुभव किया। इसी सुखानुभूति से उसे आश्चर्य हुआ।

शायद नौकर दूध ले आया था, क्योंकि जया गहरी नींद में सोये टीपू को झकझोर कर जगा रही थी। वैसे ही आँगन में पड़े-पड़े कपिल अपने अनुभव के आधार पर बिना देखे भी कमरे में घटित होने वाली घटनाओं को देखता रहा। टीपू आँखें खोलता था, कुनसुनाते हुए आँखें मलते उठ कर बैठता था और जया की रोकने की कोशिश के बावजूद फिर सो जाता था।

कपिल जानता था कि इसके बाद क्या होगा, मगर रोज़ की तरह उस सम्भावित घटना को रोकने के लिए वह उठा नहीं। जया ने टीपू को जगाने की फिर एकाध बार कोशिश की और आजिज़ आकर खींच कर उसे बैठाते हुए लगातार कई तमाचे जड़ दिये। कपिल इसे झेल लेने को तय किये लेटा था, मगर टीपू के कंठ से निकली हुई चीत्कार-भरी रुलाई ने जैसे उसका निश्चय भंग कर दिया। उसने झटके से उठते हुए दौड़कर टीपू को गोद में उठा लिया और जया को घृणा-भरी आँखो से देखते हुए कहा—"मेरा गुस्सा टीपू पर क्यों उतारती हो? मारना हो तो एक दिन निश्चय करके इसे मार ही डालो।"

नन्हा टीपू, जिसकी नींद माँ के तमाचों से टूट गयी थी, अपने

पक्षधर पिता की गोद में पहुँचकर स्वयं को सुरक्षित अनुभव करते हुए कंठ से लिपट कर और ज़ोर-ज़ोर से रोने लगा।

जया ने एक बार कपिल को क्रोध-भरी आँखों से सिर से पैर तक देखा और फिर लपक कर टीपू की बाँह पकड़ कर खींचते हुए क्रोध और आवेश से फटे हुए स्वर में बोली—"हाँ, मार डालूँगी। ज़रूर मार डालूँगी।"

कपिल ने उस आवेश को देखा, चीन्हा और फिर ज़ोर से उसकी बाँह झटकते हुए कहा—"ठीक है, मार डालना, किन्तु शायद, इतना अधिकार तुम्हें नहीं है कि मेरी आँखों के सामने तुम इसे मार डालो।" कह कर उसने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, आँगन की ओर पाँव बढ़ा दिये।

जया क्रोध और आवेश से पिशाचिनी बनी खड़ी थी। उसे आँगन की ओर क़दम बढ़ाते देखकर दौड़कर उसकी राह रोककर खड़ी हो गयी और टीपू के सिर के बालों को दोनों हाथ की मुट्ठियों में पकड़ते हुए क़रीब-क़रीब चिल्लाहट के-से स्वर में बोली—"तुम इसे छोड़ दो, वरना मैं कहती हूँ, इसे मैं अभी ही मार डालूँगी।"

कपिल ने देखा, टीपू के भूरे-भूरे से घुँघराले बाल जया की बेरहम मुट्ठियों में भिंचे पड़े हुए थे और उसके कंठ को दोनों बाँहों से लपेटकर और भी ज़ोर से चिपक जाने की कोशिश के बावजूद उसका सिर खिंच कर पीछे की ओर लटक रहा था और उसके चेहरे पर पीड़ा और उससे भी अधिक भय के कारण एक गहरी स्याही-सी फैल गयी थी। क्रोध से उसके रक्त की एक-एक बूँद खौलने लगी। उसने अनुभव किया कि उसके दाहिने हाथ की अँगुलियाँ बड़े वेग से तनने लगी हैं। ग़ज़ब हो जाता, मगर तभी उसकी नज़र हाथ में दूध लिये खड़े नौकर पर पड़ी और उसने बड़ी मुश्किल से अपने को सँभालते हुए जया से आज्ञात्मक स्वर में कहा—"हटो।"

यह स्वर नया था और इन परिचित घटनाओं की आवर्तनवर्ती

परिधि में भी प्रायः अपरिचित। उस स्वर में कुछ ऐसा था कि जया की मुट्ठियाँ आप से आप शिथिल पड़ गयीं और वह कपिल को निकल जाने के लिए अस्पष्ट राह देती हुई तनिक सरक कर खड़ी हो गयी।

कपिल ने आँखों-ही-आँखों दूध के गिलास की ओर संकेत करते हुए नौकर से कहा—"लाओ।" और रोते-सिसकते टीपू को वक्ष से चिपकाये हुए तेज़ क़दमों से आँगन में निकल आया।

जया वहीं-की-वहीं खड़ी रही। कपिल ने आँगन में आकर मुड़ कर नहीं देखा। वह उसके आज्ञात्मक स्वर से आतंकित मार्ग देकर भी अब भी क्रोध में थी। किन्तु, टीपू के बहाने कपिल ने जिस अधिकार को घोषित किया था, जिस महत्व को प्रकट किया था, उसमें इस क्षण-विशेष में अप्रकट भाव से ही सही उसका भी समभाग था। कपिल प्रतिकूल दिशा में मुँह किये टीपू को दूध पिला रहा था और वह, जो अब भी समभाग की इस सहसा अनुभूति के बाद भी क्रोध में, आवेश में थी, जाने क्यों बड़े अज्ञात भाव से उसके मुड़ कर देखने की प्रतीक्षा में थी।

टीपू दूध पी कर पिता की सुरक्षित गोद में सो गया था और जया अब भी प्रतीक्षा में थी। कपिल ने मुड़ कर नहीं देखा। वह टीपू को गोद में लिये तनिक झुककर उसके उस गोरे कपोल को व्यथित-पीड़ित आँखों से देखता रहा, जिस पर अँगुलियों की कई रेखाएँ उभर आयी थीं।

जया वहीं-की-वहीं खड़ी प्रतीक्षा मे उस दृश्य को देखती रही। नौकर शायद स्थिति को भाँप कर वहाँ से चला गया था।

कपिल ने हलके हाथों टीपू को अपनी गोद से उठाकर चारपाई पर लिटा दिया, पल-भर जाने क्या सोचता रहा फिर हलके उसके बगल में लेटते हुए अपनी आँखें बन्द कर लीं।

जया अब भी वैसे ही खड़ी थी, प्रतीक्षा में थी। अब उसने कमरे की

रोशनी गुल कर दी और जाकर चारपाई पर लेट गयी। शायद नौकर भी सो गया था। चारों ओर अजीब-सी खामोशी को बेधते हुए कभी-कभी टीपू के कंठ से चंद गहरी सिसकियाँ निकल पड़ती थीं। वह चुपचाप पड़ी-पड़ी सोचती रही। कितना विचित्र हो जाता है! कपिल के जीवन में प्रसन्नता भरने की उसकी चेष्टा जाने कैसे ऐन मौके पर असफल हो जाती है और भविष्य का आह्लादक सपना उसके देखते-देखते उसी के हाथों चिपक जाता है। आज से पाँच साल पहले जब उसका कपिल से परिचय हुआ था और उसके प्रति उसने बड़ी कातर सम्पृक्ति का अनुभव किया था और अनजाने ही उसके जीवन का प्रत्येक क्षण उसकी दिशा में बड़ी व्याकुल गति से भागा जा रहा था, तभी उसने मन-ही-मन निश्चय किया था कि अपने सहयोग से वह उसके जीवन के प्रत्येक आयाम को एक अव्याख्येय विमोहनता से प्लावित कर देगी। तब परिचय ही हुआ था, मन की मन में ही थी। फिर भी, आज भी और इस क्षण-विशेष में भी उसकी आँखों के सम्मुख वे दिन, वे क्षण तिर रहे हैं, जिनमें अनकहे भी कपिल के सम्मुख होकर उसकी भावना संवेदित हो गयी थी। कपिल के व्यक्तित्व की भव्यता, उसकी विष्णु-प्रफुल्लता, उसका आद्योपांत सम्मोहन और इनके माध्यम से बड़े अस्पष्ट भाव से झाँकता हुआ उस आकांक्षित, किन्तु अकथ का निवेदन उसे उसकी ओर अनजाने ही बड़े वेग से प्रेषित कर गया था। वे दिन थे, जब समय के वृत्त में क्षण तिरते ही रहते थे, यथार्थ की पिच्छल भूमि पर उतरते डरते थे। जाने क्या हो गये वे दिन—जाने कहाँ चले गये?

शायद नींद में ही किसी भयानक स्वप्न से डर कर टीपू की नींद खुल गयी थी और उसकी मद्धिम पड़ती हुई सिसकियाँ बहुत स्पष्ट हो आयी थीं। कपिल बड़े प्यार से थपकियाँ दे कर उसे सुलाने की कोशिश कर रहा था। जया को यह बहुत अच्छा लगा और बरबस उसकी आँखों में आँसू तिर आये। कैसा अभूतपूर्व क्षण था, जब टीपू

पैदा हुआ था ! और यह भी कैसा अभूतपूर्व क्षण है ! उसने बड़ी व्याकुलता का अनुभव किया, जैसे कि वह उस व्यतीत अभूतपूर्व क्षण को लौटा लाना चाहती हो । किन्तु, अब कैसे होगा—इस अभूतपूर्व क्षण में अब यह कैसे होगा ? वह जानती है, इस क्षण के मूल में वह है । वह जानती है कि हर चेष्टा के उपरान्त वह कपिल को उसके अनुकूल वातावरण नहीं दे पाती । यह नहीं कि वह कपिल के मन को नहीं जानती, नहीं समझती । उससे अधिक उसे कौन जानता-समझता है ? किन्तु, वह अपनी इस प्रकृति को क्या करे ? वह जानती है, वह कपिल के जीवन में प्रसन्नता का एक नया कोश खोलने आयी थी । हाँ, यही उसने चाहा था, सच है । वह यह भी जानती है और उसने स्पष्ट देखा है, अनुभव किया है कि इन पाँच वर्षों में कपिल के व्यक्तित्व के जिन प्रभावों ने उसे आकर्षित किया था, वे इन घटनाओं से निरन्तर घटते गये हैं । इसका उसे दुख भी है, यह और बात है कि यह दुःख कभी कपिल के सम्मुख प्रकट न हुआ हो ।

यहाँ पहुँच कर सोचते-सोचते एकाएक जया को झटका-सा लगा । हाँ, सारा दोष उसी का है और इससे वह कब इनकार करती है ? अक्सर उसने कपिल के सामने इन्हें स्पष्ट स्वीकार किया है, किन्तु वह भी तो उसे कभी समझने की कोशिश नहीं करता छोटी-छोटी बातें हैं । उन्हें सँभाला भी जा सकता था । किन्तु कभी कपिल ने भी तो उन्हें सँभालने की कोशिश नहीं की । यह ज़रूर है कि वह स्वार्थी है, किन्तु फिर भी, वह सदैव देती ही आयी है । कपिल ने सदैव उससे माँगा ही है, उससे चाहा ही है । भोजन, वस्त्र, घर, शय्या-सुख और थोड़ा-बहुत प्रेम—यह तो व्यावहारिक रूप से उसे किसी भी पुरुष से मिल सकता था । कपिल उसके लिए मात्र पुरुष ही नहीं था, विशेष पुरुष था । विशेष हो कर भी साधारण-सामान्य के सिवा उसने उसे दिया क्या ?

जया रुकी । यह सीमा थी । इसके आगे उससे सोचा नहीं गया ।

आँखें, जो अब तक भरी-भरी-सी थीं, कपोलों को भिगोने लगीं और मन, जो बोझिल-बोझिल-सा लगता था, असह्य हो आया। उसने करवट बदल कर इसे झेलने की कोशिश की। नहीं झेला गया। अब और नहीं झेला जाता। विचारों का ज्वार, जो बड़े वेग से उठता, उभरता, प्लावित करता चला आ रहा था, सहसा उतने ही वेग से लौटता हुआ-सा लगा। आँखों में तिरते हुए बिम्ब धुँधले पड़ने लगे। उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। हर ओर बड़ी भयानक खामोशी छायी थी। बस, कभी-कभी टीपू के कंठ से निकलने वाली सिसकियाँ उस खामोशी को बेध जाती थीं।

कौन जाने, शायद कपिल सो गया था। जया ने तनिक संयत होकर आहट लेने की कोशिश की। कुछ पता नहीं चला। टीप आँगन में सो रहा था और रात काफ़ी हो चुकी थी। कहीं सर्दी लग गयी...कहीं कुछ हो गया, तो!...जया का जी किया कि वह जा कर टीपू को उठा लाए, किन्तु तभी कपिल के करवट बदलने की आवाज़ सुन पड़ी और उस दिशा में प्रवाहित हो रहा उसका मन सहसा फिर स्थिर हो गया। वह फिर लेट गयी।

कपिल ने सुना, अनुभव किया कि जया उठी है और इस सुनने—अनुभव से उसके सोचने की कड़ी टूट-सी गयी। क्षण-भर जैसे वह जया के निकट आने की प्रतीक्षा करता रहा, फिर जैसे उस प्रतीक्षा की अनुभूति से विच्छिन्न होने के लिए उसने करवट बदल ली। अब वह यह सब नहीं चाहता। आज जैसे वह रोज़-रोज़ की इन घटनाओं की अन्तिम परिणति पर पहुँच गया था और उसकी आँखों में प्रत्येक क्षण भविष्य के सपने आ-आकर टूटते जा रहे थे। उस क्षण के बाद ऐसा लग रहा था कि इधर कुछ दिनों से निरन्तर बढ़ते जा रहे तनाव की दशा में भी उसके और जया के बीच जो एक अनुस्यूत सम्बन्ध था, वह भी आज टूट-सा गया।

कपिल ने अनुभव किया कि जया फिर लेट गयी और अन्तिम परिणति पर पहुँच जाने पर भी, हर ओर से मन-ही-मन विच्छिन्न हो जाने पर भी उसका फिर लेट जाना उसे अच्छा नहीं लगा। यह तो रोज़ होता है। रोज़ परिणति नहीं आती, लेकिन यह तो रोज़ होता है। रात के ऐसे ही निस्तब्ध क्षणों में जया उठती है, हलके पाँवों उसके निकट आ कर खड़ी होती है, बैठ जाती है, छूती है और मान का पर्वत स्वयमेव धीरे-धीरे गल जाता है। वह उठता है, उसे बाँहों में भर लेता है, वक्ष से चिपका कर होंठों से उसके आँसू पोंछ देता है, फिर दुराव नहीं रह जाता। फिर, सुबह होती है, वह कालेज चला जाता है। फिर, शाम होती है और उसके लौट कर आते ही रोज का यह क़िस्सा फिर शुरू हो जाता है। रोज़ वह इस शाम को बचाने की कोशिश करता है, मगर जाने क्या होता है कि कारण-अकारण एक धुन्ध उठती है और इस शाम को निगल जाती है। जया टीपू को ले कर घूमने निकल जाती है और वह अकेले चुपचाप कमरे में लेटे-लेटे शाम की उस नहूसत को किसी तरह झेलने की कोशिश करता है। जया लौट कर आती है और हर कोशिश के बावजूद इस तनाव को एक बड़ा पीड़क झटका लग जाता है।

यह रोज़ होता है। पत्नी को यथाशक्ति सुख देने, प्रसन्न रखने की हर कोशिश नाकामयाब हो जाती है। असन्तोष है, होगा। आद्योपांत संतोष तो किसी के भी जीवन में कहाँ दीखता है? व्यक्ति उस असन्तोष के बीच भी सुख की प्रसन्नता की दिशा ढूँढ़ ही लेता है। जया यही नहीं कर पाती। वह समान शिक्षित है, तो उसने कब उस पर अपनी परम्परा के अनुकूल विशेष अधिकार व्यक्त किया है? पति-पत्नी के बीच कौन छोटा कौन बड़ा होता है भला! यह भी सच है कि वह जया के लिए उन स्थितियों को नहीं जुगा सकता, जिन्हें वह नौकरी के साथ-साथ छोड़ कर पत्नी हो कर उसके यहाँ आयी थी। जया इसे नहीं समझती, उसकी विवशता को नहीं समझती और उससे भी अधिक

उसके मन को नहीं समझती। विवाह के बाद एक दिन भी ऐसा नहीं आया, जो अपनी अबाधित प्रसन्नता से उसे भर गया हो।

कपिल ने थोड़ी बेचैनी का अनुभव किया। उसने फिर करवट बदली।...और कुछ तो उसने जया से नहीं माँगा, बस एक यही अबाध प्रसन्नता की उसने माँग की। जया से यह भी देते न बन पड़ा।

सहसा कपिल का मन बहुत व्याकुल हो आया और उसने अनुभव किया कि जिन आँसुओं को इन पाँच वर्षों मे वह रोकता आया है, वे अब बाँध तोड़ कर निकल आने वाले हैं। मन-ही-मन वह एक अव्याख्येय पीड़ा से छटपटा उठा। न, अब इस सम्बन्ध को ढोये चलना संभव नहीं है, किसी एक पक्ष से उसे टूट ही जाना चाहिए।

पल-भर वह अपने इस विचार से स्वयं ही स्तब्ध रह गया। किन्तु, यह सच है, इस सम्बन्ध को अब टूट ही जाना चाहिए।

सोये हुए टीपू के कंठ से निकली हुई एक हलकी-सी सिसकी से उसका ध्यान टूट गया। ममत्व के वेग से आन्दोलित होकर उसने टीपू को अपनी बाँहों में खींच कर वक्ष से चिपका लिया। लकिन, तब इसका क्या होगा ?...

पिता की बाँहों में खिंच जाने और वक्ष से चिपकाये जाने के कारण टीपू की नींद खुल गयी और शायद कुछ देर पहले की मार को याद कर वह फिर सिसकियाँ भरने लगा।

उसे वक्ष से चिपकाये, सुलाने के लिए उसके सिर पर थपकियाँ देते-देते कब कपिल को नींद आ गयी, मालूम नहीं। जया अपने कमरे में आँगन से आने वाली आहटों, सिसकियों, थपकियों के सहारे उस दृश्य को प्रायः देखती-सी पड़ी रही। उसकी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आखिर इन रोज़-रोज़ की घटनाओं का अन्त क्या होगा ?

शायद सबेरा होने वाला था। कमरे का अँधेरा और भी गहरा हो गया। जया वैसे ही पड़ी-पड़ी सोचती रही। अपने लिए न सही

कपिल के लिए ही उसे कोई राह ढूँढ़नी होगी। वह दूर चली जाएगी—बहुत दूर, उसके जीवन से बहुत दूर। टीपू का क्या? वह तो यों भी माँ से अधिक पिता का है—अपने संरक्षक पक्षधर पिता का।

जया उठ बैठी। वह ज़रूर कपिल के जीवन से दूर चली जाएगी। इस रोज़ की कथा का कोई अन्त नहीं है। उसने अपने भीगे कपोलों को हलके उँगलियों से पोंछने की कोशिश की। सहसा उसकी उँगलियों में बिजली-सी कौंध गयी, कितने ज़ोर से उसने टीपू को मारा था! अब भी उसकी सिसकियाँ रह-रह कर आँगन से तिर आती थीं। वह मन-ही-मन एक मर्मान्तिक वेदना से छटपटा-सी उठी। टीपू आँगन में सो रहा था। कहीं सर्दी लग गयी...कहीं कुछ हो गया, तो?...

जाने कैसी एक आशंका उसे बींध गयी। क्षण-भर वह वैसे ही बैठी सोचती रही। फिर, दबे पाँव आ कर कपिल के सिरहाने खड़ी हो गयी। टीपू को वक्ष से चिपकाये कपिल सो रहा था। वह मुग्ध आँखों से पिता-पुत्र का सोना देखती रही। उसका जी टीपू को उठाकर बाँहों में भर लेने को, वक्ष से चिपका लेने को व्याकुल होता जा रहा था। रह-रह कर उसके हाथ स्पर्श करने के लिए बढ़ जाते थे, किन्तु जाने क्यों उसे स्पर्श करने का साहस उसे नहीं हो रहा था।

सहसा जाने क्या हुआ कि सोये-ही-सोये टीपू नींद में चौंक पड़ा और उसके कंठ में बहुत देर से दबी हुई सिसकी एकाएक फूट पड़ी। जया का आत्मज्ञान सहसा विस्मृत-सा हो गया और उसने विद्युत्-संचालित-सी अवस्था में एक ज़ोर के झटके के साथ कपिल की बाँहों के वृत्त से उसे अपनी गोद में खींच लिया। कपिल गहरी नींद में इस अचानक झटके से घबरा कर उठ बैठा और उसके हाथ आप-ही-आप टीपू की सुरक्षा के लिए उसके साथ-ही-साथ जया की गोद की ओर बढ़ गये।

जया विस्मृत-सी अवस्था में टीपू को गोद में। लिये वक्ष से चिपकाये आँखें मूँदे खड़ी थी और उसके मुख से फुसफुसाहट की-सी ध्वनि में एक ही वाक्य बार-बार निकल रहा था—"मुझे मार डालो, मगर इसे मत छीनो।"

कपिल विस्मित आँखों से जया के इस परिवर्तित रूप को देखता रहा। यह जया का असम्भव रूप था—इन पाँच वर्षों के अनुभव के आधार पर प्रायः अकल्पनीय।

जया उसके सम्मुख वैसे ही आँखें मूँदे खड़ी फुसफुसाहट के स्वर में अपने उसी वाक्य को दोहराये चली जा रही थी और टीपू अपनी दोनों नन्ही बाँहों से उसकी गर्दन लपेट कर उसके कंधे पर सिर टेके फूट-फूट कर रो रहा था।

सबेरा हो रहा था। हल्का प्रकाश फैलने लगा था और कपिल जानता था कि सुबह के बाद फिर वही शाम आएगी। फिर भी, अब उससे यों विच्छिन्न बैठा नहीं गया। भीतर-ही-भीतर व्याकुल होते हुए उसने उठ कर जया को अपनी बाँहों में समेटते हुए यथाशक्ति अपने कंठ की आर्द्रता को छिपाने की कोशिश करते हुए कहा—"भूल जाओ, आज तक जो हुआ, वह सब भूल जाओ।"

भिक्खू दादा

फ्रंटियर मेल बड़े वेग से भागी जा रही थी। गोधड़ा, बस, और फिर बड़ौदा। शिशिर ने वैसे ही लेटे-लेटे बड़ौदा का अस्फुट उच्चारण किया और उसके उच्चारण के साथ-ही-साथ उसने थोड़ी घबराहट का अनुभव किया। वहाँ वह एक यात्री की तरह नहीं जा रहा है—रहने जा रहा है। शायद रह जाना पड़े—वहीं बस जाना पड़े। परिचित के नाम पर वहाँ उस बड़े शहर में एक भिक्खू दादा हैं और बस। और भिक्खू दादा भी अब तो केवल परिचित ही रह गये हैं। कितने दिन हो गए उनसे मिले। उसने जोड़ कर याद किया—शायद ग्यारह-बारह वर्षों के बाद वे मिलेंगे। लेकिन इन वर्षों का अंतर पंद्रह-सोलह साल के शिशिर और पच्चीस-छब्बीस साल के शिशिर में रूप और आकृति के विकास और परिवर्त्तन की एक दीर्घ और संश्लिष्ट कथा का अंतर है।

उसे थोड़ी चिंता हुई। बड़ौदा स्टेशन पर भिक्खू दादा उसे कैसे पहचान सकेंगे? शायद नहीं पहचान सकेंगे। तब क्या होगा? उस उतने बड़े अनजान शहर में वह अकेला कहाँ-कहाँ भटकता फिरेगा? बात छोटी-सी थी, पर सोचकर उसे बड़ी चिंता हो आयी। सहसा सोचते-सोचते वह अँधेरे में अपने-आप मुस्करा उठा। सच, कैसा है वह! अभी भी शिशुवत् सोचता-समझता है। भिक्खू दादा भले ही उसे इस दीर्घ अंतराल के बाद पहचान न सकें, वह तो उन्हें पहचान सकता है। उसे याद आया, उसके पिता ने चंद महीने पहले दक्षिण की यात्रा से लौट आकर एक दिन बताया था, 'भिक्खू वही है—आर्टिस्ट। सिर पर रूखे-बिखरे बड़े-बड़े बाल, रवि बाबू की शैली में बढ़ायी हुई दाढ़ी, वही खादी का धोती-कुरता और कंधे से लटकते

हुए कपड़े के बड़े-से बैग में एक पूरा अजायब-घर। ठीक है।' उसे संतोष हुआ और उसने मन-ही-मन एक शांति का अनुभव किया। भिक्खू दादा भले ही उसे पहचान न सकें; पर इस चिरपरिचित रूप के सहारे तो वह उन्हें लाखों की भीड़ में भी ढूँढ़ लेगा। वे उसे रिसीव करने आएँगे ज़रूर, यह तय है। यात्रा आरम्भ करने के पहले उसने उन्हें अपने पहुँचने की तिथि और समय की सूचना तार से दे दी थी।

शायद गोधड़ा जंक्शन आ गया था। गाड़ी की रफ़्तार धीमी पड़ गई थी। उसने उठकर बैठते हुए खिड़की का शीशा गिरा दिया और तनिक तिरछा होकर गाड़ी की गति की दिशा में देखा। हाँ, गोधड़ा जंक्शन आ गया था और बिजली की रोशनी नज़र आ रही थी। उसने खिड़की का शीशा चढ़ा दिया और अपनी बर्थ पर लेट गया। अभी दो घंटे और लगेंगे, तब बड़ौदा। कौन जाने दो घंटे से भी ज़्यादा लगे। सोने के इरादे से उसने करवट बदली और अपनी आँखें बंद कर लीं।

बहुत देर तक वह आँखें बंद किये पड़ा रहा। सोने की हर कोशिश के बावजूद उसे नींद नहीं आयी। रह-रहकर आँखों के सम्मुख भिक्खू दादा का परिचित मुख तिर आता और उनके चरित्र की विचित्रता उसके मन पर छा जाती। कौन जानता है, भिक्खू दादा किस पुण्यात्मा माता-पिता की संतान हैं! जहाँ तक उसे मालूम है, वे तो अपने संबंध में कभी कुछ बताते नहीं। उनके व्यक्तित्व में 'स्व'-जैसी कोई भावना ही नहीं है, उनमें जो कुछ है, 'पर' है। बस, इतना ही याद है उसे कि भिक्खू दादा का नाम भिक्षुक चटर्जी है, मूलतः वे बंगाल के चौबीस परगना के निवासी हैं और शिक्षा-संस्कार, पेशे और महत्वाकांक्षा से वे शिल्पी भी हैं, चित्रकार भी।

भिक्खू दादा की इस याद से मन-ही-मन गुंफित होकर आँखें बंद किये पड़े-पड़े सहसा उसने अनुभव किया कि गाड़ी की रफ़्तार कुछ

धीमी पड़ने लगी है। उसने झटके से उठकर खिड़की का शीशा गिरा कर देखा। बड़ौदा स्टेशन बिजली की रोशनी से जगमगा रहा था। उसने जल्दी से होल्डॉल को लपेटा, बिखरे सामान को इकट्ठा किया और ऊपर की बर्थ को पकड़े झटकों को झेलते हुए प्लैटफार्म पर गाड़ी के रुक जाने की प्रतीक्षा में खड़ा रहा।

अपने कम्पार्टमेंट के दरवाज़े को खोलते हुए कुली को पुकारने के लिए उसने सामने प्लैटफार्म पर दृष्टि डाली, तो ठगा-सा रह गया। पिताजी के द्वारा वर्णित रूप में साक्षात् भिक्खू दादा ठीक उसके सामने खड़े थे। उसने उतरकर प्रणाम की मुद्रा में अपने दोनों हाथ जोड़ते हुए आह्लादित स्वर में पुकारा—'ओ भिक्खू दादा!'

भिक्खू दादा ने पुकारनेवाले व्यक्ति की ओर देखा और शिशिर ने लक्ष्य किया, सहसा उनकी आँखों में एक चमक पैदा हुई और होठों पर मुस्कान की एक बड़ी तरल रेखा खिंच आयी। उन्होंने दौड़-कर उसे बाँहों में भर लिया और आशीर्वाद देने के स्वर में वैसे ही मुस्कराते हुए बोले—'मुझे चीन्ह गया न?'

'चीन्हता कैसे नहीं भला?'—शिशिर ने उनके आश्लेष से मुक्त होकर कहा—'आपको क्या नए सिरे से चीन्हना होगा, भिक्खू दादा? वही तो हैं आप, बिल्कुल वही। इन वर्षों में आपमें कोई विशेष परि-वर्त्तन हुआ हो, ऐसा तो नहीं लगता आपको देखकर।' कहकर उसने फिर एक बार उनका आद्योपान्त निरीक्षण किया। हाँ, ठीक ही तो कहा उसने। उसने ग्यारह-बारह वर्ष पहले जिस भिक्खू दादा को जाना था, उनसे आज के इस भिक्खू दादा में कहीं तनिक भी भिन्नता नहीं थी। और भिक्खू दादा के रूप और वेश के इस साम्य से उसे बड़ा सन्तोष हुआ। ठीक है—तनिक रुककर उसने मन-ही-मन कहा और कुली की सहायता के लिए फिर अपने उस कम्पार्टमेंट में दाखिल हो गया।

कुली के सिर पर सामान उठाकर उसे बढ़ने का संकेत करते हुए

उसने फिर एक बार ध्यानपूर्वक भिक्खू दादा की ओर देखा और हल्के मुस्कराते हुए जिज्ञासा की—'अब भिक्खू दादा कहाँ चलना होगा ?'

भिक्खू दादा ने चलते-चलते तनिक रुककर उसकी ओर देखा और फिर जैसे कुछ याद आ गया हो, ज़ोर का एक ठहाका लगाकर बोले—'कहाँ चलना है के क्या मानी ? अपने भिक्खू दादा के यहाँ चलना है।'

कुली सामान लेकर बहुत आगे बढ़ गया था। वह भिक्खू दादा को तनिक पीछे छोड़ता हुआ कुली की ओर बढ़ गया। टैक्सी में सामान वग़ैरह रखकर जब दोनों बैठ गए और टैक्सी चलने को हुई तो उसने फिर अपना प्रश्न दोहराया—'हाँ, तो भिक्खू दादा, यह तो तय है कि मुझे चलना आप ही के यहाँ है, मगर आप रहते कहाँ हैं ?'

भिक्खू दादा उससे मिलकर प्रसन्न थे और धीरे-धीरे मुस्करा रहे थे। इस प्रश्न को सुनकर तनिक गम्भीर हो आए। क्षण भर कुछ सोचने की मुद्रा में रहने के बाद फिर वैसे ही प्रसन्न भाव से मुस्कराते हुए बोले—'अरे, मेरा क्या ? मैं तो आजीवन किसी-न-किसी का आश्रित होकर रहने के लिए उत्पन्न हुआ हूँ। अपना गृह-जैसा कुछ रचने का स्वप्न मैंने कभी देखा ही नहीं। यहाँ भी मैं आश्रित ही हूँ। एक उत्तर प्रदेश के कलाप्रिय सज्जन हैं—मिस्टर मेहरोत्रा, उन्हीं के साथ रहता हूँ। छोटा-सा परिवार है उनका—खुद, पत्नी और एक लड़की। मगर मकान बहुत बड़ा है और उसी के एक हिस्से में दो कमरे उन्होंने मुझे दे रखे हैं। वहीं रहता-खाता हूँ और अपना काम करता हूँ।' कहकर वे क्षण भर चुप रहे, फिर जैसे अपने विचारों में खो गये। शिशिर ने मद्धिम रोशनी में ध्यान से एक बार उनका मुख देखा और उस ओर से निश्चिन्त होकर बाहर हौले उतरते प्रकाश में दीख रही सुनसान सड़कें, निस्तब्ध मकान और सुबह की टूटती-जुड़ती नींद से प्रभावित दृश्यों में उलझ गया।

टैक्सी एक बहुत बड़े मकान के पोर्टिको में जाकर खड़ी हो गई। उसका ध्यान टूटा। भिक्खू दादा टैक्सी का दरवाज़ा खोलकर उतरते हुए उससे कह रहे थे—'आओ, आओ, किसी भी प्रकार के संकोच की ज़रूरत नहीं।'

संकोच तो नहीं था, किन्तु मन-ही-मन वह किंचित् असुविधा का अनुभव अवश्य कर रहा था। भिक्खू दादा का अपना घर होता तो और बात थी, यहाँ तो वे स्वयं आश्रित थे। सहसा उसने सुना, कोई स्त्री भिक्खू दादा से पूछ रही थी—'आपके शिशिर बाबू आ गए दादाजी ?'

भिक्खू दादा ने उसे उतर आने का संकेत करते हुए उत्तर दिया—'हाँ माँजी ! मगर देखिए न, औरतों की तरह संकोच से भरा टैक्सी में बैठा है।'

'अरे, संकोच काहे का ?'—उस स्त्री ने कहा और शिशिर ने टैक्सी से उतरते हुए देखा कि वह बरामदे की सीढ़ियाँ उतर कर उसकी ओर बढ़ती चली आ रही थी। भिक्खू दादा ने शिशिर का कंधा छूते हुए कहा—'यह अपनी माँजी हैं शिशिर, प्रणाम करो।'

जिन्हें भिक्खू दादा ने माँजी कहा था, वे उसके सामने खड़ी थीं। शिशिर ने मुख से कुछ कहा नहीं, केवल प्रणाम की मुद्रा में अपने दोनों हाथ जोड़ दिये। ड्रायवर ने सामान उतारकर बरामदे में रख दिया। भिक्खू दादा ने आगे बढ़ते हुए कहा—'यों खड़े-खड़े मुख क्या ताक रहे हो ? आओ न।'

शिशिर चुपचाप माँजी के साथ आकर बरामदे में पड़ी बेंत की कुर्सी पर बैठ गया। माँजी तनिक ठहर कर भिक्खू दादा के साथ अन्दर चली गईं। वह अकेले बैठा नए वातावरण के संकोच और असुविधा मे डूबता-उतराता रहा। तनिक ही देर में लौट आकर माँजी ने जिज्ञासा की—'आप गुसल के पहले चाय पीना नापसन्द तो नहीं करते न ?'

'नहीं, नापसंद तो नहीं ही करता, बल्कि इसकी आदत-सी है।' शिशिर ने उनकी उम्र का खयाल कर तनिक उठते हुए कहा—'मगर इस वक्त कहाँ तकलीफ करेंगी आप।'

'कैसी बातें करते हैं आप ? तकलीफ काहे की ?'—माँजी ने धीमे मुस्कराते हुए कहा—'आप बैठिए, मैं तुरंत ले आती हूँ।'

माँजी फिर अंदर चली गईं। उसने वक्त गुज़ारने के लिए पोर्टिको के बाहर नज़र दौड़ायी। सूर्योदय में अब भी देर थी, किंतु सुबह की रोशनी उतर आयी थी। उसने कलाई में बँधी घड़ी पर नज़र डाली। साढ़े पाँच से कुछ ज़्यादा ही हो रहा था। उसे अकेले यों चुपचाप बैठे रहना अच्छा नहीं लग रहा था। वह उठकर पोर्टिको से होते हुए सामने अहाते में लगे मौसमी फूलों की क्यारियों के बीच जा खड़ा हुआ। बहुत बचपन से ही उसके मन में फूलों के प्रति बड़ा मोह, बड़ा आकर्षण रहा है। भगवान् जाने, इन फूलों में इतना सौंदर्य, इतना रस कहाँ से आता है।

सहसा भिक्खू दादा ने उसे ढूँढ़ते हुए वहाँ आकर उसका ध्यान भंग करते हुए कहा—'अरे, देखो न, तुम यहाँ हो और मैं परेशान था कि तुम कहाँ चले गए।'

शिशिर ने उनकी ओर देखा। वे हल्के मुस्करा रहे थे। उसने भी हल्के मुस्कराते हुए कहा—'घबराते क्यों हैं ? मैं भागूँगा नहीं, भिक्खू दादा !'

भिक्खू दादा खिलखिलाकर हँस पड़े और बोले 'भागोगे भी कहाँ ! मैं तो स्वयं पलातक हूँ। पलातक के निकट से भागना संभव नहीं है।' फिर तनिक रुककर बोले—'चलो, माँजी चाय लिये बैठी तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही हैं।'

माँजी ने बड़ी अच्छी चाय बनाई थी और उसके दो प्याले पीकर शिशिर ने रात्रि के जागरण, दीर्घ यात्रा की थकान और नई जगह की असुविधाओं और संकोच के बावजूद ताज़गी का अनुभव किया।

भिक्खू दादा सामने बैठे थे और बहुत प्रसन्न दीखते थे। उसे उनकी यह प्रसन्न मुद्रा बहुत अच्छी लगी और मन-ही-मन प्रसन्नता से भरकर उसने उनके प्रति एक कृतज्ञता का अनुभव किया।

भिक्खू दादा ने अपने ही कमरे में उसकी ठहरने की व्यवस्था कर दी थी और इस बीच नौकर ने उसका सामान वहाँ करीने से लगा दिया था। उनके साथ उस कमरे में आकर उसने एक बार यथास्थान रखे अपने सामान का मुआयना किया और नित्यक्रिया से निवृत्त होने में व्यस्त हो गया। उसे इससे बड़ा संतोष हुआ कि टॉयलेट के लिए उसे एक अजनबी पराये घर के अंदर नहीं जाना पड़ा; क्योंकि उस कमरे से ही जुड़ा हुआ टॉयलेट का स्वतंत्र कमरा था।

नहा-धोकर वह निकला तब भिक्खू दादा वहाँ नहीं थे। उसने कपड़े पहने, कंघी की और तैयार होकर कमरे से निकलने ही वाला था कि बगल के कमरे से उनके खिलखिलाकर हँसने और उसका नाम लेकर जोर-जोर से पुकारने की आवाज़ कानों में पड़ी। उसने संकोचभरे पाँवों से चलकर बगल के कमरे में प्रवेश किया और चौखट पार करते ही सहम कर रुक गया। वे शीतलपाटी पर बैठे कोई डिज़ाइन बना रहे थे और अपने निकट बैठी युवती से खिलखिलाकर कह रहे थे—'अरे नहीं, शिशिर प्रेत नहीं है।'

शायद उसके कदमों की आहट सुनकर उन्होंने मुड़कर उसकी ओर देखा और बोले—'आओ, संकोच काहे का? यह सुधा है—माँजी की इकलौती बेटी। अभी पूछ रही थी कि आपके शिशिर बाबू कोई प्रेत हैं क्या कि दीखते नहीं?'

उसने आगे बढ़कर सुधा के मौन नमस्कार का मौन उत्तर दिया और भिक्खू दादा के समीप बैठते हुए बोला—'देखता हूँ भिक्खू दादा, लोगों की इतनी चिंता से तो मैं दब जाऊँगा।'

भिक्खू दादा ने मुस्कराते हुए सुधा की ओर देखा कि देखो, यह प्रेत नहीं है, बोलता है, दीखता है। वह नीचे नज़र किये बैठी थी।

कुछ देर तक उसकी ओर वैसे ही देखते रहने के बाद उन्होंने कहा—'सुधा, नाश्ता करा दो बेचारे को, भूख लगी होगी।'

सुधा ने सुना और उठ खड़ी हुई। बोली—'देखिए न, मैं तो यह भूल ही गई थी।' शिशिर ने लक्ष्य किया। पर वह यह कहकर सप्रयास उसकी ओर अनदेखे चली गई। भिक्खू दादा ने फिर अपनी पेंसिल सँभाली और अपने काम में व्यस्त हो गए।

उसने मन-ही-मन तय किया था कि पहले वह अपने दफ्तर हो आएगा, फिर आराम करेगा। मगर नाश्ता कर चुकने के बाद उसने अनुभव किया, उससे दफ्तर नहीं जाया जा सकेगा। उसने अपने कपड़े उतार दिये और लेट गया। एक बजे के लगभग भिक्खू दादा ने उसे जगाया। उठने को जी नहीं करता था, फिर भी उठना पड़ा। किसी तरह चुपचाप भोजन करके वह फिर कमरे में लौट आकर लेट गया। शाम को उसकी नींद टूटी तो सबसे पहले बगल के कमरे में भिक्खू दादा के खिलखिलाकर हँसने की आवाज़ उसके कानों में पड़ी। उसने उठकर मुँह-हाथ धोया और थोड़ी देर तक अकेले बैठा सोचता रहा कि कितने विचित्र हैं वे भिक्खू दादा, जिनके अनिश्चित जीवन में इतनी निश्चिन्त खिलखिलाहटें भरी हैं। उसने उठकर कपड़े पहने और कहीं बाहर निकलने के इरादे से भिक्खू दादा को आवाज़ देते हुए कमरे से बाहर निकल आया।

भिक्खू दादा ने बगल के कमरे से आवाज़ दी—'आ जाओ।'

पाँव की आहट सुनकर उन्होंने हल्के तनिक सिर उठाया और गर्दन घुमाकर उसकी ओर देखते हुए कहा—'टूट गई नींद तुम्हारी? अभी क्षण भर पहले सुधा आयी थी और कह रही थी कि आपके जो शिशिर बाबू आए हैं न, सच में प्रेत हैं; मुश्किल से क्षण भर को दीख जाते हैं।' कहकर उन्होने अपनी चिरपरिचित मुस्कराती आँखों से उसकी ओर देखा और क्षण भर रुक कर वैसे ही खिलखिलाकर हँसने लगे। उसने उनके निकट ही बैठते हुए हल्की मुस्कान के साथ कहा—

'देखिए भिक्खू दादा ! अपनी इस सुधा को समझा दीजिए। भला-सा चेतन प्राणी हूँ मैं, मुझे यों बार-बार प्रेत नहीं कहा करते। नया परिचय है, पल भर का; कहीं शुरू में ही झगड़ा न हो जाए।'

उन्होंने पेंसिल रखते हुए एक ज़ोर का ठहाका लगाया और आवाज दी—'सुधा ! ओ सुधा !!'

शिशिर ने टोका—'कहीं घूमने नहीं चलिएगा भिक्खू दादा ?'

बाहर बरामदे में जनानी चप्पलों की आवाज़ सुन पड़ी और आवाज़ आयी—'आयी दादाजी !'

उन्होंने उठते हुए उससे कहा—'हाँ, चलूँगा। कपड़े तो बदल लूँ।'

सुधा ने अंदर प्रवेश करते हुए जिज्ञासा की—'आपने बुलाया, दादाजी ?'

'हाँ, हाँ।' भिक्खू दादा ने कहा—'यह लो, अपने इस प्रेत को सँभालो। तब तक मैं कपड़े बदल आऊँ।' कहकर उन्होंने प्रतीक्षा नहीं की, चले गये। शिशिर ने देखा, वह सकुचायी-शरमायी-सी खड़ी थी। उसने उठकर खड़े होते हुए कहा—'सुना, आप मुझे प्रेत कहती हैं और देख भी रहा हूँ कि आपको प्रेत से डर लगता है।'

सुधा अब तक बहुत-कुछ सहज हो आयी थी। मुस्कराते हुए उसने जिज्ञासा की—'यह किसने कहा आपसे ? दादाजी ने न ?'

'हाँ, कुछ ऐसा ही समझिए।' शिशर ने शरारती हँसी हँसते हुए कहा—'यों प्रेत सर्वव्यापी होता है, उससे कोई बात छिपी नहीं रह सकती।' और फिर तनिक रुक कर कहा—'हाँ, आप नहीं चलेंगी ? चलिए न, मेरा तो यहाँ कुछ देखा-सुना नहीं है।'

वह कुछ कहने ही जा रही थी कि भिक्खु दादा ने अपने कमरे से निकलते हुए कहा—'मैंने तय किया है कि हमारे साथ सुधा भी जाएगी, क्योंकि तुम्हारे देखने-जानने योग्य मेरा इस शहर में कुछ देखा-जाना नहीं है।'

प्रसिद्ध कमाटी-बाग में बैंड-स्टैंड के समीप पहुँचकर यकायक रुकते हुए भिक्खू दादा ने कहा—'सुनो, तुम दोनों यहीं घूमो । मैं तुरंत डॉक्टर के यहाँ से दवा लेकर आता हूँ ।'

'डॉक्टर ?'...शिशिर ने तनिक चौंकते हुए प्रश्न किया—'आपकी तबीयत ठीक नहीं है क्या, भिक्खू दादा ?'

उन्होंने कुछ कहा नहीं, बस मुस्करा कर रह गये । उसकी जिज्ञासा को शांत करने के लिए सुधा ने कहा—'नहीं, यह बात नहीं है । दादा जी का बहुत बड़ा परिवार है । आज हमारी नौकरानी का बच्चा बीमार है ।'

'एक इसी से तो भागता रहा हूँ मैं, जिसे तुम परिवार कहती हो ।' भिक्खू दादा ने सुधा को सुनाकर किंचित अपरिचित-से गंभीर स्वर में कहा और पल भर रुक कर उन्हें वहीं छोड़कर आगे बढ़ गए । वह विस्मित दृष्टि से एकटक उन्हें जाते देखता रहा और उनके संबंध में तरह-तरह की बातें सोचता रहा ।

सुधा ने टोका—'आप आगे चलेंगे या यहीं मूर्त्तियों के सामने बैठना पसंद करेंगे ?'

उसने अपनी चिंता से टूटकर सुधा की ओर देखा । कहा—'नहीं, आगे नहीं जाएँगे अब, बैठिए ।'

कुछ देर तक दोनों चुपचाप बैठे रहे, फिर शिशिर ने जिज्ञासा की—'अच्छा, सुधाजी, यह भिक्खू दादा कितने दिनों से आपके यहाँ हैं ?'

'करीब पाँच-छः साल हुए ।'—सुधा ने याद करते हुए कहा—'मगर क्यों ?'

'यों ही ।' उसने दूसरी ओर देखते हुए कहा—'यह भिक्खू दादा आपको भी विचित्र लगते हैं न ?'

सुधा ने तुरंत उत्तर नहीं दिया । सोचती रही । फिर बोली—'हाँ, विचित्र तो हैं ही दादाजी । सामान्य जैसा होता है, शायद वैसे नहीं

हैं वे। शायद वे महान् हैं या उनमें वे तत्व भी नहीं हैं, जिनसे एक सामान्य मनुष्य बनता है। मैं स्वयं आज तक उनके संबंध में कोई निर्णय नहीं कर पायी।'

'शायद उनके संबंध में आपकी धारणा ठीक है।' शिशिर ने कहा और सुधा की ओर देखा। वह शायद एकटक उसे ही देख रही थी। लजाकर उसने अपनी दृष्टि दूसरी ओर कर ली। वह बैठा सोचता रहा—कैसा संयोग होता है कभी-कभी!

'यों ही बैठे रहेंगे! घूमेंगे नहीं ज़रा?' सुधा ने तनिक देर बाद उठते हुए जिज्ञासा की।

जाने क्यों उसका घूमने-फिरने का जी नहीं हो रहा था। फिर भी आग्रहभरे उस जिज्ञासा की रक्षा के लिए उसने उठते हुए कहा—'हाँ, चलिए न।'

सुधा ने चलते-चलते कहा—'मुझे यहाँ घूमना अच्छा लगता है, मगर अकेले नहीं। दादाजी को पकड़ लाती हूँ कभी-कभी। अच्छा रहता है। बहुत-सी बातें भी होती हैं, ज़्यादातर कलाओं के संबंध में; और तबीयत भी बदल जाती है।'

उसने सुना, मगर उसने कुछ कहा नहीं। उसके साथ ख़ामोश चलता रहा। मन-ही-मन सोचता रहा—कल दफ़्तर जाएगा, ज्वाइन करेगा और शाम को मकान की तलाश करेगा, एक छोटा-सा मकान, जिसके सामने इतनी ज़मीन ज़रूर हो कि थोड़े-से फूल लगाए जा सकें, फिर जाकर माँ को ले आएगा। और अब तो उसने नौकरी भी कर ली है, ऊँची तनख़्वाह की नौकरी। तब एक दिन........

सोचते-सोचते उसने यकायक सामने देखा तो चकित रह गया। भिक्खू दादा दवा की शीशी हाथ में लिये सामने खड़े मुस्करा रहे थे।

'बाग़ पसंद आया तुम्हें?' उन्होंने अपनी निश्छल मुस्कान की मोहनी फैलाते हुए सवाल किया।

'हाँ, बहुत पसंद आया।' उसने सुधा की ओर देखते हुए उत्तर दिया, जैसे उससे आँखों-ही-आँखों कहना चाहता हो कि देखिए न, इसके लिए मैं आपका आभारी हूँ।

लौटते हुए भिक्खू दादा ने इस बाग़ की प्रशंसा करते-करते तनिक रुककर गंभीर होते हुए कहा—'मगर जानते हो शिशिर, जाने क्यों मुझे यहाँ आना बहुत अच्छा नहीं लगता। जाने क्यों जी बड़ा उदास हो आता है। तुम तो बँगला जानते हो न? शायद तुमने यह कविता पढ़ी हो—'फूलबने आरो जाबो ना आमी, मने पड़े शेई कथा, फूलेर शुरभि शंगे-शंगे आछे अनेक व्यथा।''....

विस्मित दृष्टि शिशिर ने भिक्खू दादा के मुख पर डाली। शेई कथा....वह कथा? क्या मानी? कौन-सी कथा? मगर वहाँ—उस मुख पर—इसकी कोई अभिव्यक्ति नहीं थी। उसके जी में हुआ कि उनसे पूछे कि 'शेई कथा' के क्या मानी? कौन-सी कथा? किस अंत-रंग कथा का संकेत किया जा रहा है? नायक कौन था उस कथा का, नायिका कौन थी? पर उससे पूछा नहीं गया। मन में जगी इन जिज्ञासाओं को वश में करते-करते उसकी दृष्टि व्याकुल होकर भटकते-भटकते जा कर सुधा पर टिक गई।

लौट आकर कपड़े उतारते हुए उसने मन-ही-मन निश्चय किया, किसी दिन भिक्खू दादा से इस कविता का विशिष्ट अर्थ वह अवश्य पूछेगा। किन्तु, इस निश्चय के बाद भी उसका मन कविता की विशिष्टता से, उसके अज्ञात गोपन-संदर्भ से मुक्त नहीं हुआ। घंटे-डेढ़ घंटे के बाद सुधा भोजन के लिए बुला ले गई। उससे निबटकर वह बड़ी देर तक सुधा और भिक्खू दादा से तरह-तरह की बातें करता रहा।

जब सुधा उठकर चली गई तो वह अपने कमरे में वापस लौट आया। इस बीच उस कमरे में एक और चारपाई डाल दी गई थी। और भिक्खू दादा उस पर आकर लेट गए थे। शिशिर ने उनकी

और देखते हुए सवाल किया—'आपका काम कैसा चल रहा है, भिक्खू दादा ?'

'ठीक ही है।' भिक्खू दादा ने ऊपर छत की ओर देखते हुए कहा—'खाने-पीने भर को मिल जाता है। इससे अधिक मुझे चाहिए भी नहीं।'

शिशिर ने लेटते हुए प्रश्न किया—'लगभग कितनी आमदनी हो जाती है आपकी ?'

भिक्खू दादा की आँखें अब भी छत पर ही टिकी थीं। उन्होंने वैसे ही गम्भीर स्वर में कहा—'आय या मासिक आय की तरह निश्चित कुछ नहीं है, मगर साल में चित्रों और मूर्त्तियों से ढाई-तीन हज़ार रुपए मिल जाते हैं। परसाल तो काफ़ी पैसे मिल गए थे—करीब सात हज़ार।'

'हूँ!' शिशिर ने आँखें बंद किए करवट बदलते हुए कहा—'इतनी आय तो अकेले जीवन के लिए काफ़ी है, क्यों भिक्खू दादा ? आप चाहें तो अपना अलग मकान लेकर बड़े आराम से रह सकते हैं।'

भिक्खू दादा पल भर मौन रहे। जाने क्या सोचते रहे। फिर बोले—'देखो न, सोचता तो मैं भी हूँ, कई बार योजना भी बनायी, लेकिन जिसे तुम चाहना कहते हो न, उसका इस प्रसंग में मुझमें जन्म ही नहीं होता। और, सोचो न, अपना घर....अपना परिवार.... फिर अपनी समस्याएँ...। न, शिशिर, मुझसे यह नहीं होगा।'

'मगर क्यों ?' उसने वैसे ही लेटे-लेटे प्रश्न किया—'आपको यह आश्रित रहना अच्छा लगता है, भिक्खू दादा ? इतनी आय है आपकी, उसका क्या करते हैं ?'

इस बार उत्तर देने में भिक्खू दादा ने और भी विलम्ब किया। वह वैसे ही आँखें मूँदे पड़ा बड़े उत्सुक मन से उनके उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा। बड़ी देर बाद उन्होंने कहा—'शायद तुमने बड़ा उचित

प्रश्न किया है। अक्सर मैं भी अपने आप से यह प्रश्न किया करता हूँ, किंतु मुझे कभी इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं मिला। शायद यह प्रश्न ही एक स्वीकारात्मक उत्तर है। शायद मेरे अशांत मन को इस आश्रय से सुख होता है। शायद यह परिवार से पलायन की क्षतिपूर्त्ति है। हाँ, यह आय कहाँ चली जाती है, नहीं जानता। मेरे वश की वह कभी हुई ही नहीं। इसीलिए, अब मैं प्रायः तटस्थ हो गया हूँ।'

शिशिर ने सुना, सजग मन से सुना। उसने कहा—'सो तो ठीक है भिक्खू दादा ! कितने दिनों के बाद हम मिले हैं। इसी से शायद कुछ कहने का अधिकारी मैं नहीं हूँ। किन्तु, मुझे ऐसा लगता है कि मन में इतना ममत्व लिये परिवार की रचना और संयोजना से आपका पलायन अकारण नहीं है। वह क्या है, भिक्खू दादा ?'

उसने अपने कथन के उपरान्त उनकी तीव्र प्रतिक्रिया का अनुमान किया था, किन्तु बड़ी देर तक कोई उत्तर नहीं मिला। प्रतीक्षा करते-करते उसे जाने कब नींद आ गई। सुबह, जब अभी धुँधलका मिटा नहीं था, उसकी नींद टूटी। उसे आश्चर्य हुआ, वे अपने बिस्तर पर नहीं थे। बगल के कमरे में रोशनी जल रही थी। उसने दबे कदमों झाँक कर देखा—एक बहुत बड़े कैनवास पर वे किसी नये चित्र की पृष्ठभूमि तैयार कर रहे थे।

वह लौट आकर फिर सो गया। नींद टूटी तो बाहर बरामदे में माँजी उनसे कह रही थीं—'शिशिर बाबू को जगाइए न दादाजी, चाय तैयार है।'

उसने जल्दी-जल्दी गुसल किया और भिक्खू दादा के साथ चाय पीने चला गया। नहा-धोकर भिक्खू दादा से आवश्यक पूछताछ करके वह अपने दफ़्तर चला गया। वहाँ जाकर वह कुछ ऐसा फँसा कि जब वह वापस आया तो रात को लगभग नौ बज रहे थे। सुधा लॉन में चहलकदमी करते हुए उसकी प्रतीक्षा कर रही थी। देखते ही

बोली—'कहाँ खो गए थे आप ! हमें तो बड़ी चिंता हो आयी थी। दादाजी तो अभी क्षण भर पहले आपके दफ़्तर की ओर गये हैं।'

उसे बड़ा अफ़सोस हुआ। कम-से-कम उसे टेलीफोन कर देना चाहिए था। उसने क्षमा-याचनापूर्वक पश्चात्तापभरे स्वर में कहा—'आप लोगों को मेरे कारण बड़ा कष्ट हुआ।'

उसकी आवाज़ सुनकर मेहरोत्रा साहब भी बाहर निकल आये। बोले—'ऐसा नहीं करते बेटा, कम-से-कम खबर तो कर दी होती।'

गलती करनेवाले नादान शिशु की तरह वह उनके सामने चुपचाप समर्पित-सा खड़ा रहा। मेहरोत्रा साहब ने उसके समर्पण की मुद्रा से और भी प्रभावित होकर सुधा से कहा—'खड़ी हो ? ले जाओ बेचारे को, खिलाओ-पिलाओ। क्या पता, दिन को भी खाने-पीने का वक़्त मिल सका है या नहीं।'

शिशिर ने उनके मुख की ओर देखा और उस पर अभिव्यक्त ममत्व और स्नेह से प्रभावित होकर और भी समर्पित होते हुए कहा—'नहीं, दिन को तो वहीं कैंटीन में मैंने खा लिया था।' फिर तनिक रुककर सुधा की ओर देखते हुए कहा—'हम भिक्खू दादा की प्रतीक्षा नहीं करेंगे ?'

वह विमुग्ध आँखों से उसकी समर्पणमयी मुद्रा को देख रही थी। उससे टूटते हुए बोली—'हाँ, कुछ देर ठहर ही जाएँ हम।'

मेहरोत्रा साहब अन्दर चले गये। वे दोनों वहीं लॉन में बैठ गये। सुधा ने तनिक देर बाद प्रश्न किया—'कहाँ लगा दी आपने इतनी देर ?'

शिशिर ने ऊपर आसमान की ओर देखते हुए कहा—'कुछ तो दफ़्तर में ही देर हो गई। उसके बाद अपने एक असिस्टेंट के साथ मकान की तलाश में भटकता रहा। शाम को दफ्तर में एक पार्टी थी, उसमें शरीक होना पड़ा। और देखिए न, लौटते-लौटते इतनी देर हो गई।'

सुधा ने आगे कोई जिज्ञासा नहीं की। खामोश बैठी रही। फिर उठते हुए बोली—'आप कपड़े वगैरह बदल लीजिए न, तब तक दादाजी भी आ जाएँगे।'

अपने कमरे में आकर शिशिर ने कपड़े बदले, मुँह-हाथ धोया और कमरे से निकलने को ही था कि बरामदे में भिक्खू दादा का स्वर सुन पड़ा। वे माँजी से पूछ रहे थे—'शिशिर आ गया, माँजी?'

तेज़ क़दमों से चलते हुए उसने उनके निकट जाकर हाथ जोड़ते हुए कहा—'मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया न? अपराधी होने के नाते दण्ड पाने को प्रस्तुत हूँ।'

भिक्खू दादा ने भाव-विह्वल होकर उसे आश्लेष में ले लिया। कहा—'अरे, नहीं, अपराध कैसा? हाँ, यह जगह तुम्हारे लिए नई है न? इसी से चिंता लगी थी।'

सुधा ने आकर सूचना दी, भोजन परोसा जा चुका था। वह भिक्खू दादा और माँजी के साथ अन्दर जाकर मेहरोत्रा साहब की बगल में बैठ गया। सुधा ठीक सामने बैठी थी—बहुत गंभीर। उसने एकाध बार लोगों की नजरें बचा कर उसकी ओर देखा, मगर रहस्य को पकड़ न सका। मेहरोत्रा साहब प्रत्येक निवाले के बाद उसके सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ पूछते जा रहे थे। यकायक सुधा ने भिक्खू दादा को लक्ष्य करते हुए कहा—'दादाजी, आप अपने अभ्यागत का पूरा खयाल नहीं रखते ऐसा लगता है।'

'मेरा अभ्यागत?' भिक्खू दादा ने ज़ोर का एक ठहाका लगाया—'कौन है मेरा अभ्यागत?'

'क्यों?' सुधा ने झुकी निगाह से सवाल किया—'शिशिर बाबू आपके अभ्यागत नहीं हैं क्या?'

'हाँ, है तो। अभ्यागत ही कह लो। मगर हुआ क्या आख़िर?'—भिक्खू दादा ने खिलखिला कर हँसते हुए कहा। शिशिर ने भिक्खू दादा के प्रश्न के उत्तर के लिए सुधा की ओर देखा। आख़िर इसका अर्थ

क्या है ? मगर सुधा की दृष्टि थाली पर झुकी थी। सुधा ने वैसे ही आँखें झुकाए कहा—'अजीब हैं आप, दादाजी! आपको इसकी खबर नहीं ? आपके अभ्यागत महोदय एक ही दिन में यहाँ की असुविधाओं से ऊबकर अलग मकान तलाश कर रहे हैं।'

भिक्खू दादा ने कुछ नहीं कहा, मगर माँजी ने प्रश्न किया—'क्यों शिशिर बाबू, आपको यहाँ तकलीफ़ हो रही है क्या ?'

'नहीं तो। ऐसी तो कोई बात नहीं। मगर एक-न-एक दिन तो मकान तलाश करना ही होगा।' शिशिर ने सुधा की ओर देखते हुए कहा।

'हाँ, सो तो ठीक है। हमारे यहाँ क्यों रहोगे ?' मेहरोत्रा साहब ने कहा—'हम तो ग़ैर हैं। मगर ऐसी भी जल्दी क्या है ?'

उसे कुछ कहते न बन पड़ा। वह थाली में अँगुलियाँ टेके सुधा की ओर देखते हुए उत्तर सोचता रहा। भिक्खू दादा ने रक्षा की, कहा—'न...न, ऐसा नहीं करेगा शिशिर। कोई आसमान के नीचे थोड़े ही पड़ा है।'

भोजन समाप्त करके शिशिर जब अपने कमरे में आया तो कल की तरह सुधा साथ नहीं आयी। भिक्खू दादा भी कुछ थके-से लग रहे थे। आकर अपने विस्तर पर लेट गए। क्षण भर खामोश रह कर शिशिर की ओर करवट बदलते हुए उन्होंने अपरिचित-से गम्भीर स्वर में कहा—'आज मैंने बड़े उत्साह से एक चित्र बनाना शुरू किया था—उर्वशी का चित्र। नारी के सौंदर्य, उसकी कोमलता, बंकिमा को एक नई अभिव्यक्ति प्रदान करने की चेष्टा कह सकते हो उसे। सोचा था, जब तुम दफ़्तर से लौट आओगे, तुम्हें उस चित्र का प्रारूप दिखाऊँगा, मगर तुम्हारे मकान तलाश करने की बात सुनकर मेरा उत्साह कुछ टूटता-सा लग रहा है।'

शिशिर को उनकी बातें सुनकर थोड़ा आश्चर्य हुआ और दुःख भी। उसने अवश्य भूल की है। हाँ, सच, ऐसी भी क्या जल्दी है ?

'भिक्खू दादा !' शिशिर ने धीमे स्वर में पुकार ।

'हाँ ।'

'इससे आपको दुःख हुआ है ?'

'दुःख ?....नहीं ।' भिक्खू दादा ने कहा—'दुःख नहीं, लेकिन जाने कैसा एक उत्साह मुझमें आ गया था । अब वह टूटता-सा लग रहा है ।'

शिशिर पल भर अवाक् रह गया । कैसे हैं ये भिक्खू दादा ! परिवार की रचना-संयोजना से पलायन और इतनी भावुकता, इतनी सम्पृक्ति ! उसने बड़े आग्रहभरे स्वर में कहा—'न, भिक्खू दादा, आप हतोत्साहित न होइए । यदि वह उत्साह मुझसे आया है, तो मेरे कारण वह टूटेगा नहीं ।'

उन्होंने कुछ कहा नहीं । अजीब-सी ख़ामोशी छा गई । उसने भी बात आगे बढ़ाना उचित न समझकर अपनी आँखें बन्द कर लीं ।

करीब एक महीना गुज़र गया । भिक्खू दादा उर्वशी की रचना में संलग्न रहे । एक दिन सुबह जब शिशिर की नींद टूटी, उन्होंने पूछा—

'आज रविवार है । आज तो तुम्हें दफ़्तर नहीं जाना है न ?'

'हाँ, क्यों ?' उसने कहा ।

'आज दोपहर तक मेरी उर्वशी तुम्हारे देखने लायक हो जाएगी ।' उन्होंने कहा और बगल के कमरे में चले गये ।

शिशिर ने मेहरोत्रा साहब और माँजी के साथ नाश्ता किया, चाय पी और अपने कमरे में वापस आ गया । उसे थोड़ा आश्चर्य हुआ, आज भी सुधा कहीं दीख नहीं पड़ी । उसने न जाने कैसी एक विकलता का अनुभव किया । उसका जी किया कि वह सुधा को पुकारे और इस इरादे से वह कमरे से निकलकर बरामदे तक आया, मगर उसे पुकार न सका । महीने दिन की इस नाराजगी के बाद भी उसे उम्मीद थी कि दिन के भोजन के समय वह अवश्य दीख पड़ेगी, मगर

उस वक्त भी वह कहीं दीख नहीं पड़ी। लौट आकर मन-ही-मन उसकी इस गोपन अर्थवती अनुपस्थिति से एक अव्याख्येय विकलता का अनुभव करते हुए वह अपने कमरे में अकेले पड़ा रहा। दो बजे के लगभग भिक्खू दादा ने कमरे में प्रवेश करते हुए कहा—'अरे, तुम यहाँ अकेले यों चुपचाप पड़े-पड़े क्या कर रहे हो?'

'बस, पड़ा हूँ।' शिशिर ने कहा और उठ बैठा। तनिक ठहरकर जिज्ञासा की—'आपकी 'उर्वशी तैयार हो गई भिक्खू दादा?'

'ठीक तैयार तो नहीं हुई।' भिक्खू दादा ने कहा—'मगर तुम्हारे देखने लायक हो गई है। ठहरो, जरा सुधा को पुकार लूँ।'

वे सुधा को पुकारने चले गए। वह फिर कमरे में अकेला रह गया। उसकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। चुपचाप वैसे ही बिस्तर पर बैठा रहा। थोड़ी देर बाद भिक्खू दादा ने बगल के कमरे से आवाज दी। उसने उठकर बालों में कंघी की और जाने क्यों कुछ देर तक आईने में अपना मुख देखता रहा। शायद विलम्ब होता जानकर भिक्खू दादा ने फिर आवाज़ दी।

शिशिर ने बगल के कमरे में प्रवेश करते हुए देखा, सुधा भिक्खू दादा की शीतलपाटी पर द्वार की विपरीत दिशा में घुटनों को बाँहों में लपेटे और उन पर सिर टेके बैठी थी। उन्होंने उसे देखते ही कहा—'अरे, क्या कर रहे थे तुम? बड़ी देर लगा दी?'

सुधा की मुद्रा में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। वह वैसे ही बैठी रही। उसने आकर शीतलपाटी पर उसके निकट ही बैठते हुए सामने बोर्ड पर लगे परदे के अन्दर से झाँक रहे कैनवास को लक्ष्य करते हुए भिक्खू दादा से कहा—'तो, भिक्खू दादा, इसका अनावरण मुझे ही करना है न?'

सुधा वैसे ही बैठी रही। भिक्खू दादा ने ज़ोर का ठहाका लगाया—'अच्छा, अनावरण ही सही। मगर सुधा से भी पूछ लो। शायद उसे एतराज़ हो।'

सुधा की मुद्रा में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। उसने वैसे ही स्थिर बैठे हुए कहा—'मुझे क्यों एतराज होगा ? मैं अतिथि नहीं हूँ दादाजी !'

शिशिर ने अभ्यागत की जगह अतिथि का प्रयोग लक्ष्य किया। उसने मन-ही-मन जाने कैसी पीड़ा का अनुभव किया और उठते हुए कहा—'ठीक है, भिक्खू दादा, मैं अतिथि हूँ न, मैं ही अनावरण किये देता हूँ।'

सुधा ने शायद कथ्य का संकेत ग्रहण किया। शिशिर ने लक्ष्य किया, वह तनिक अस्त-व्यस्त हो आयी। भिक्खू दादा ने अपने चित्र की ओर देखते हुए कहा—'मगर रुको, मैं चला जाऊँ यहाँ से। तुम दोनों इसे अकेले मे देखो, फिर अपनी राय बताना।'

सुधा शायद इसके लिए प्रस्तुत नहीं थी। उसने घुटने पर से सिर उठाते हुए भिक्खू दादा को रोकने के लिए उनकी ओर देखा, मगर इसके पहले कि वह कुछ कहे, वे चले गये। वह क्षणभर चुपचाप खड़ा रहा, फिर आगे बढ़कर चित्र के आवरण को स्पर्श करते हुए बोला—'आप मुझसे अब भी नाराज़ हैं क्या ?'

'नहीं नाराज़ क्यों होऊँगी ?' सुधा ने उसकी नज़र से कतराते हुए कहा।

'हाँ, होना तो नहीं चाहिए, मगर लगता है, आप नाराज़ हैं।' शिशिर ने आवरण के भीतर दीख रही उर्वशी की आकृति को देखते हुए कहा, और कोई उत्तर न पाकर उसने वह आवरण हटा दिया। उर्वशी !...प्रीतिकातर उर्वशी ! सच, भिक्खू दादा ने अनुपम चित्र बनाया था। इतनी भावना, इतनी विकल अभिव्यक्ति उसने कम ही चित्रों में देखी थी। वह मुग्ध दृष्टि से उस चित्र को देखता रह गया।

सहसा पाँव की आहट से चौंककर उसने मुड़कर देखा। सुधा कमरे से बाहर जा रही थी। उसने उत्कंठित स्वर में पुकारा—'सुधाजी !'

चौखट के समीप पहुँचकर सुधा रुक गई। बिना मुड़े बोली—'जी?'

'जा रही हैं आप?' शिशिर ने बढ़कर उसके निकट जाकर जिज्ञासा की—'क्यों? क्या बात है? लगता है, आप मुझसे बहुत ज़्यादा नाराज़ हैं।'

'मैंने कहा न, मैं क्यों नाराज़ होऊँगी भला?' सुधा ने दूसरी ओर देखते हुए कहा।

'आप नाराज़ नहीं हैं न? तो क्षण भर बैठिए, फिर चली जाइएगा। आपने तो भिक्खू दादा का चित्र भी नहीं देखा।' शिशिर ने कहा।

सुधा पल भर दूसरी ओर देखती हुई वैसे ही खड़ी रही और फिर धीरे से मुड़ते हुए लौट आकर शीतलपाटी पर बैठ गई। शिशिर ने निकट ही बैठते हुए कहा—'सुनिए, अब तो मैंने मकान तलाश करना छोड़ दिया है; मगर आप यों इस मूड मे रहेंगी, तो मुझसे यहाँ कैसे रहा जाएगा? इसी तनाव में एक महीना तो गुज़र गया।'

शायद शिशिर के कथन ने सुधा को अपेक्षा से अधिक संवेदित किया। उसके सुधा के होठों पर व्यथास्निग्ध हल्की मुस्कान तिर आयी। शिशिर ने उस मुस्कान की रेखा को मन-ही-मन स्पर्श करते हुए प्रसन्न स्वर में कहा—'हाँ, यह रही न बात। फिर मिलाइए हाथ।'

तनिक प्रतीक्षा कर अपना हाथ बढ़ाते हुए आग्रहभरे स्वर में शिशिर ने फिर कहा—'मिलाइए न। दोस्ती नहीं करनी है?'

सुधा ने अपनी बड़ी-बड़ी आँखें खोलकर उसकी ओर देखा और अपना हाथ बढ़ाते हुए संकोच को छिपाने के लिए खिलखिलाकर हँस पड़ी। शिशिर ने अपने हाथों में उसका हाथ थाम लिया और मुग्ध दृष्टि से उसे देखता रह गया। इतनी सुन्दर दीखती है सुधा, यह तो अब तक उसने लक्ष्य ही नहीं किया था। उर्वशी! प्रीतिकातर उर्वशी!...और दोनों की दृष्टि भिक्खू दादा के उस सद्यःरचित चित्र पर जाकर टिक गई। अरे, सहसा शिशिर को विश्वास नहीं हुआ। चित्र की उर्वशी सुधा से बहुत मिलती-जुलती थी। वही हल्के पीले

जॉर्जेट की-सी झीनी-झीनी साड़ी, वही आँखें,—प्रीतिकातर, बड़ी-बड़ी, अगाध आकर्षण भरी। यह क्या है? उसने घबराकर दृष्टि घुमायी, तो ठगा-सा रह गया। भिक्खू दादा शायद दबे पाँव आकर वहाँ खड़े थे और उसके हाथों में अब भी सुधा का हाथ पड़ा था।

उसने घबराकर सुधा का हाथ छोड़कर उठते हुए कहा—'बड़ा अच्छा चित्र बनाया है आपने भिक्खू दादा, सच।' और अपने स्वर की छलिया अभिव्यक्ति को स्वयं भाँपते हुए चुप हो गया।

भिक्खू दादा ने कोई उत्तर नहीं दिया। चुपचाप खड़े-खड़े एकटक अपने चित्र को देखते रहे। शिशिर की समझ में नहीं आ रहा था कि वह क्या करे। सहसा सुधा उठी और बिना कुछ कहे चली गई। भिक्खू दादा उसे जाते हुए एकटक देखते रहे।

रात हो गई, मगर भिक्खू दादा वैसे ही उस कमरे में बैठे रहे। रात के भोजन के वक्त भी वे सम्मिलित नहीं हुए। सुधा बुलाने गई तो व्यस्त होने का बहाना कर दिया। सुधा बड़ी प्रसन्न और उत्साहित थी किंतु भिक्खू दादा की अनुपस्थिति से शिशिर को एक विचित्र-सी असुविधा का अनुभव हो रहा था।

थोड़ी देर तक लॉन में बैठकर सुधा से तरह-तरह की बातें करने के बाद वह सोने का बहाना कर अपने कमरे में चला आया और लेट कर भिक्खू दादा की प्रतीक्षा करने लगा। जाने कब उसे नींद आ गई। करीब चार बजे उसकी नींद टूटी, तो वह चौंक कर उठ बैठा। बगल के कमरे में अब भी रोशनी जल रही थी। उससे नहीं रहा गया। उसने उठकर तेज कदमों से चलते हुए बगल के कमरे में प्रवेश करके देखा—भिक्खू दादा उस चित्र की रचना में अब भी व्यस्त थे। वह जाकर उनकी बगल में खड़ा हो गया और कुछ कहना ही चाह रहा था कि उसकी दृष्टि उस चित्र पर पड़ी, और वह स्तब्ध-अवाक् रह गया।

शिशिर ने भावना-विह्वल स्वर में प्रश्न किया—'यह क्या, भिक्खू दादा ?'

भिक्खू दादा में ध्यान से टूट कर उसकी ओर देखा और रात की गहरी निस्तब्धता को भंग करते हुए ज़ोर का एक ठहाका लगाकर कहा—'क्यों ? चित्र पूरा कर रहा हूँ।'

'मगर, उर्वशी...' शिशिर ने किंकृत्यजड़ स्वर में कहा।

'उर्वशी ?' भिक्खू दादा पलभर उसकी ओर देखते रहे। फिर पूर्ववत् चिरपरिचित शैली में बड़े सहज भाव से खिलखिलाकर हँसते हुए बोले—'नहीं, अब उर्वशी नहीं, इसे दीर्घजिह्वा बना रहा हूँ।'

शिशिर अवाक्-स्तब्ध खड़ा कभी उन्हें, कभी उर्वशी से दीर्घजिह्वा में परिवर्त्तित चित्र को देखता रहा। कितने विचित्र हैं भिक्खू दादा ! परिवार की रचना-संयोजन से पलायन करते हैं, किसी असंभव कल्पना से उद्दीपित होकर उर्वशी की रचना करते हैं और अपनी कल्पना से छले जाकर उर्वशी को दीर्घजिह्वा में परिवर्तित कर देते हैं।

●

उद्दीपन की एक रात

हल्की वर्षा हो रही थी। जाड़े की शाम और हल्की वर्षा—वीरेन्द्र मोहन के लिए दूसरा रास्ता न था। यों भी शाम के वक्त अपने कमरे में, जिसके दरवाजे बन्द और खिड़कियाँ खुली हों, ईज़ीचेयर पर पड़े-पड़े किताबें पढ़ना या सिगार पीना और बीच-बीच में रूमानी चिंतन करते जाना उन्हें ज्यादा पसंद है। जिंदगी के बत्तीस साल किताबें पढ़ते, सिगार पीते, रूमानी चिंतन करते गुजर गए।

मगर आज की शाम की बात और थी। कालेज से लौटते वक्त रास्ते में मुलाकात हो जाने पर मिसेज वर्मा ने अपनी अदाओं के साथ बड़े व्यंग्यात्मक स्वर में कहा था—"आज शाम की पार्टी में तो शायद आपका आना न हो सके।"

"क्यों?"—गौर से मिसेज वर्मा को देखते हुए वीरेन्द्र मोहन ने सवाल किया था—"ऐसी भी क्या बात है?"

मिसेज वर्मा ने वीरेन्द्र मोहन की ओर मुस्कराती आँखों से देखते हुए कहा था—"बात नहीं है प्रोफेसर, राज़ की बात है। आइएगा, तो बताऊँगी।"

अजीब हैं ये, जिन्हें लोग मिसेज वर्मा कहते हैं। वीरेन्द्र मोहन ने न चाहते हुए भी कुछ तो उत्सुकतावश और कुछ मिसेज वर्मा के आग्रह की रक्षा के लिए सूरज डूबते ही पार्टी में शरीक होने की तैयारियाँ शुरू कर दीं।

बादल तो खैर सुबह से ही थे, मगर वर्षा होगी, इसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता था। वीरेन्द्र मोहन ने बिजली की रोशनी में फिर शेव किया, गर्म पानी से शैम्पू किया, देर तक आइने के सामने खड़े होकर बालों में कंघी की, अपने चहेते नौकर से जूते में पालिश

करवायी, लंडन में बड़े मन से सिलवाया हुआ काले रंग का सूट और पेरिस मे अपने एक मित्र की फिआन्शी की पसंद से खरीदा हुआ वो निकाला और पहन कर देर तक आइने के सामने खड़े होकर कपड़ों के कर्व्स दुरुस्त किये। मगर जब चलने को हुए, पता चला, हल्की वर्षा शुरू हो गई थी।

और, अब, वीरेन्द्र मोहन के लिए कोई दूसरा रास्ता न रह गया था। पार्टी में सम्मिलित होने की प्रक्रिया में उनमें अनजाने ही एक उत्साह आ गया था। उन्हें आश्चर्य हुआ—पार्टी में सम्मिलित होने का उत्साह! क्षण भर वे दूसरी मंजिल पर अपने कमरे की खिड़की के निकट खड़े-खड़े बाहर वर्षा की फुहारों को देखते रहे। इन बत्तीस सालों में कभी ऐसा नहीं हुआ, विदेशों के उत्तेजक आकर्षणों में पली शामों में भी नहीं। उन्हें अपने आवेगों के संयम पर अटूट आस्था थी। किन्तु, जाने क्यों, आज वे कुछ निराश-से, फ्रस्ट्रेटेड-से लग रहे थे; अनहोना हो गया था।

वीरेन्द्र मोहन ने नौकर को पुकार कर सिर्फ दूध में कॉफी बना लाने की आज्ञा दी और भीतर से कुछ थके-से, पराजित से ईज़ीचेयर पर पड़ गए। सिगार के धुँएँ के छल्ले रचते-तोड़ते हुए बड़ी मुश्किल से उन्होंने स्वयम् को संयमित किया। आज, सच, अनहोना हो गया था।

उन्होंने उठकर अलमारी से कुछ किताबें निकालीं और उन्हें ला कर ईज़ीचेयर की बगल में पड़ी टेबल् पर रख दिया। कपड़े बदलने के खयाल से वे अपने वारड्रोब के निकट गए लेकिन जाने क्या सोच कर इस विचार को स्थगित कर दिया और लौट आ कर ईज़ीचेयर पर बैठ गए। नौकर ने कॉफी का पाट और प्याला लाकर उनके सामने रख दिया। कॉफी को आहिस्ता शिप करते हुए उन्होंने बगल की टेबल् से कुछ किताबें उठाईं और हल्के हाथों उन्हें उलट-पुलट कर देखने लगे। आज उनका जी गंभीर पुस्तकों में नहीं लग रहा था।

उन्होंने तीन-चार दिनों पूर्व रेलवे स्टॉल से खरीदा हुआ बालजाक का उपान्यास 'टेम्पटेशन इन पेरिस' उठाया और उसे पढ़ने के ख़याल से ईज़ीचेयर की बाँह पर रख दिया, मगर कॉफी समाप्त कर चुकने के बहुत देर बाद तक भी उनका उस पुस्तक को पढ़ने का जी नहीं किया। वे चुपचाप आँखें मूँदे सोचते रहे।

यकायक टेलीफोन की घंटी से चौंक कर उनका ध्यान टूटा और उन्होंने उठकर रिसीवर कान से लगाते हुए कहा—"दिस इज़ वीरेन्द्र मोहन, येस।"

मिसेज वर्मा की आवाज़ आयी—"कहिए, हुआ न वही, जो मैं कहती थी! आप नहीं ही आए।"

वीरेन्द्र मोहन ने अपने स्वर को अधिक से अधिक कोमल बनाते हुए कहा—"नहीं देखिए न, अब इस वर्षा को मैं क्या करूँ?"

मिसेज वर्मा के खिलखिला कर हँसने की आवाज़ आयी। मिसेज वर्मा ने कहा—"अच्छा बहाना मिल गया आपको। खैर, कहिए, मैं अपनी गाड़ी भेज दूँ?"

वीरेन्द्र मोहन पशोपेश में पड़ गए। उनसे कुछ कहते नहीं बन पड़ रहा था। ऐसे ऑब्लिगेशन्स उन्होंने कभी स्वीकार नहीं किए। मगर अब ऐसे मौके पर, जब तीर तरकश से निकल चुका हो, और मिसेज वर्मा पूछ रही हों कि कहिए, गाड़ी भेज दूँ, वे क्या करते? उन्होंने कहा—"अच्छा भेज दीजिए।"

रिसीवर रखते हुए उन्होंने नौकर को आवाज़ दी और कहा—"देखो, मिसेज वर्मा की गाड़ी आ रही है, आते ही फ़ौरन खबर करना।" और फिर बालों में कंघी करने के ख़याल से ड्रेसिंग-टेबिल के सामने जा खड़े हुए।

लेकिन ज्यादा इन्तजार नहीं करना पड़ा। वीरेन्द्र मोहन जब मिसेज वर्मा की गाड़ी पर क्लब पहुँचे, कार्यक्रम प्रायः शुरू होने को हो चुका था। मिसेज वर्मा इस टेब्ल् से उस टेब्ल् तक दौड़

रही थीं। बहुत व्यस्त दीख रही थीं, जैसे ही वीरेन्द्र मोहन ने हाल में प्रवेश किया, मिसेज वर्मा ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया और क्लब के दूसरे सदस्यों से उनका परिचय एवं आलाप कराया। जाने क्यों, आज वीरेन्द्र मोहन को मिसेज वर्मा बड़ी सुन्दर दीख पड़ीं। गोरे छरहरे किन्तु, पुष्ट अंगों पर मखमली लहजे की हल्की आसमानी साड़ी और सुनहले वेलवेट की चोली बेहद फब रही थी। उनकी काजल की रेखाओं से नुकीली की हुई मुसकराती आँखें, गुलाबी शेड की लिपस्टिक से सँवारे पतले होंठ, रूज़ से प्रभावित कंपाल, घुँघराले काले बॉब्ड कुंतलों के छतनार फैलाव के तले कानों में निरंतर डोलती-काँपती मकराकृत बालियाँ और उनकी संगमरमर-सी चिकनी गोल पतली नाज़ुक बाँहें और गर्दन—इनमें से प्रत्येक उनकी उम्र के सम्बन्ध में वीरेन्द्र मोहन के अनुमान का खंडन करता हुआ-सा प्रतीत हो रहा था।

सहसा मिसेज वर्मा ने हॉल के बीचोबीच लगी बड़ी टेब्ल् के पास जाकर समुपस्थित व्यक्तियों को संबोधित करते हुए कहा—"लेडीज़ ऐण्ड जेंटलमेन!"......

बोलती हुई ज़ुबानें यकायक खामोश हो गईं। सब अपनी-अपनी जगह पर बैठ गए। वीरेन्द्र मोहन भी अपनी जगह पर बैठ गए। सब की आँखें मिसेज वर्मा पर जा कर टिक गईं।

मिसेज वर्मा ने कहा—"आज हमारे क्लब का सालाना जलसा है और खुशी है कि सौभाग्यवश आज क्लब का एक-एक सदस्य उपस्थित है। साथ ही हमारे बीच कुछ ऐसे लोग भी हैं, जिनकी उपस्थिति से हमारे उत्साह को नया बल मिला है और हम गौरवान्वित हुए हैं। ऐसे ही लोगों में एक प्रोफेसर वीरेन्द्र मोहन भी हैं, जिनके पाण्डित्य ने विदेशों में हमारे देश को गौरव प्रदान किया है।"...तनिक रुककर मुस्कराती हुई आँखों से वीरेन्द्र मोहन की ओर देखते हुए मिसेज वर्मा ने कहा—"हमें उम्मीद है, वीरेन्द्र मोहन जी हमारी गुस्ताखी के लिए

हमें क्षमा करेंगे। हमने जान-बूझकर ही उन्हें इस बात की खबर न दी कि उन्हें ही इस जलसे की सदारत करनी है। हम जानते हैं, उनका एक-एक क्षण मूल्यवान है। फिर भी हमने यह गुनाह करने का साहस किया। मैं वीरेन्द्र मोहन जी से सभापति का आसन ग्रहण करने की प्रार्थना करते हुए एक बार फिर उन्हें विश्वास दिलाना चाहती हूँ कि हमने जो गुनाह किया है, वह बड़ा पवित्र है। और यह भी कि वह गुनाह तो है, मगर बाअदब !"

मिसेज वर्मा ने ज्योंही अपना वक्तव्य समाप्त किया, सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। वीरेन्द्र मोहन कुछ सोच सकें, इसके पहले ही उनके पास पहुँचकर मिसेज वर्मा ने शरारती हँसी हँसते हुए कहा—"उठिए, सोचने का वक्त नहीं है यह। जब यों पकड़ में आ गए हैं आप, तो यहाँ से भागना शायद आपके लिए मुमकिन न हो सकेगा, और हमारे जलसे में भी देर हो रही है।"

यहाँ पहुँचकर उन्हें यह करना होगा, वीरेन्द्र मोहन ने सोचा भी न था। मगर करते क्या? मिसेज वर्मा की अँगुलियों के स्पर्श के सहारे उठकर सभापति की कुर्सी पर आ बैठे। एक बार फिर सारा हॉल तालियों की गड़गड़ाहट से गूँज उठा। मिसेज वर्मा भी आकर बगल की कुर्सी पर बैठ गई थीं। वीरेन्द्र मोहन के सामने कार्यक्रम की सूची रखते हुए बड़ी हसीन अदा के साथ बोलीं—"देर करने से क्या लाभ? अब शुरू कीजिए न।"

वीरेन्द्र मोहन से उनकी ओर देखा न गया। उन्होंने अनुभव किया कि उनकी आँखों के किनारे गोरे चमकते कपोलों पर निरन्तर डोलती हुई बालियों की बिजलियाँ चमक रही हैं। उन्होंने कहा—"अच्छा" और उठ कर घोषणा की—"अब कार्यक्रम के अनुसार आपके सम्मुख अल्पना बनर्जी जैजैवन्ती का ख्याल गाएँगी।"

ज्योंही हाथों में तानपूरा लिये अल्पना बनर्जी क्लब के मंच पर उपस्थित हुईं, फिर सन्नाटा छा गया। युवती ही कही जायँगी अल्पना

बनर्जी, बिजली की तेज रोशनी में सुन्दर लगीं। तानपूरे से स्वर निकाला। वीरेन्द्र मोहन ने टेबुल् पर टिकी मिसेज वर्मा की लम्बी पतली अँगुलियों को देखा।—लम्बी, पतली अँगुलियाँ। अल्पना बनर्जी ने आलाप के बाद गायन प्रारम्भ किया—"मनमोहना........"

मिसेज वर्मा ने वीरेन्द्र मोहन के कानों के समीप झुक कर धीरे-से कहा—"गजब का कण्ठ पाया है मिस बनर्जी ने। आपका क्या खयाल है?"

वीरेन्द्र मोहन ने उत्तर देने के लिए तनिक मुड़कर मिसेज वर्मा की ओर देखा। शब्द की काया छूट गई। मुश्किल से कहा—"ठीक कहती हैं आप।"

अल्पना बनर्जी के गायन के उपरान्त सुजाता भटनागर का नृत्य हुआ, मिस्टर पाठक ने मैजिक दिखलाई, मिस्टर चोपड़ा ने तबला वादन किया। वीरेन्द्र मोहन ने उठकर घोषणा की—"अब मिसेज वर्मा गीत सुनाएँगी।"

वीरेन्द्र मोहन अपनी ही घोषणा से चकित रह गए। मिसेज वर्मा गाती भी हैं, यह उनके लिए एक नई सूचना थी। उन्हें आश्चर्य हुआ कि कई बार कार्यक्रम को पढ़ने के बाद भी यह रहस्य उनकी दृष्टि में कैसे नहीं आया। मिसेज वर्मा ने उठते हुए अपनी चिर-परिचित मुस्कराती आँखों से देखते हुए कहा—"तो, गाऊँ।"

कहकर मिसेज वर्मा ने उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की, मंच की ओर बढ़ गईं। मगर वीरेन्द्र मोहन को लगा कि चली तो गईं मिसेज वर्मा किन्तु जाने के पूर्व क्षण भर के लिए वे जब रुकी रह गई थीं, उन्हें जरूर उनके जवाब का इंतजार था। उन्हें अपने पर गुस्सा आया; क्यों ऐसा हुआ? क्यों, जब मिसेज वर्मा उत्तर की प्रतीक्षा में क्षण भर रुकी थीं, उनके कण्ठ से शब्द नहीं फूटे?

मिसेज़ वर्मा ने मंच पर स्थान ग्रहण किया और क्लब के सदस्यों ने बड़े उत्साह के साथ तालियाँ बजा कर उनका स्वागत किया।

वीरेन्द्र मोहन ने इसके पहले कभी बहुत गम्भीर होकर नहीं सोचा था। वे गाती हैं, और यह कि इतना अच्छा गाती हैं, इसका अनुमान भी उनके लिए एक नया अनुभव होता। किन्तु, यहाँ, इस भरी महफिल में मिसेज वर्मा बड़े आह्लादक स्वर में गा रही थीं—"मेरी आँखों की पुतली में तू बन कर प्राण समा जा रे"—और वीरेन्द्र मोहन विस्मय-विमुग्ध सुन रहे थे और उन्हें बड़ा विचित्र अनुभव हो रहा था। मिसेज़ वर्मा सुन्दर हैं, विदुषी हैं, बहुत अच्छा गाती हैं और गाते हुए उनकी लम्बी पतली गर्दन अदा के साथ मुड़ती है और गोरे चमकीले कण्ठ में बहुत कंपन पैदा हो जाती है।

वीरेन्द्र मोहन ने क्लब के दूसरे सदस्यों और आमंत्रित व्यक्तियों को देखा। जाने क्यों कुछ अजीब लग रहा था। शरीर के उत्तेजना-वाहक अवयवों में एक नई चेतना प्रवाहित हो रही थी।

मिसेज वर्मा ने अन्तरा की पंक्तियाँ गाते-गाते कुछ अजीब अदा से तिरछी आँखों से वीरेन्द्र मोहन को देखा। वीरेन्द्र मोहन विवश थे, उनकी शिराओं में अग्नि दौड़ गई। उन्होंने अनुभव किया, जाड़े की बादलों भरी रात में भी लंदन में बड़े चाव से सिलाया हुआ यह काला सूट बेहद गर्म मालूम हो रहा था।

जाने कहाँ थे वीरेन्द्र मोहन! उन्हें एक झटका लगा, मिसेज़ वर्मा अपना गायन समाप्त कर चुकी थीं।

मिसेज वर्मा ने आकर पूछा—"बुरा तो नहीं गाती न मैं?"

वीरेन्द्र मोहन को शब्द न मिले। कहा—"नहीं, इतना मधुर कण्ठ......"

कहते-कहते वीरेन्द्र मोहन ने मिसेज़ वर्मा की ओर देखा और उसकी लम्बी पतली गर्दन के मक्खन-जैसे रंग से मिले-जुले हार से ठीक गर्दन की मेखला से लगकर लटके हुए कुण्डलायित सर्प की आकृति के छोटे-से लॉकेट को देखकर सहसा चुप हो गए।

मिसेज़ वर्मा ने बगल की कुर्सी पर बैठते हुए कहा—"काफी रात हो गई, अब इसे समाप्त कर "डिनर" की तैयारी करनी चाहिए।"

वीरेन्द्र मोहन ने उठकर क्लब के सदस्यों का धन्यवाद करते हुए डिनर की घोषणा की। हाल में फिर कोलाहल मच गया। मिसेज वर्मा डिनर की व्यवस्था में व्यस्त हो गईं।—इतनी गति।

वीरेन्द्र मोहन ने वक्त गुजारने के लिए हॉल की दीवारों पर टँगे चित्रों को देखना शुरू किया, ऐसी ही सालाना पार्टियों के चित्र। एक चित्र में मिसेज वर्मा माइक के सामने खड़ी होकर भाषण कर रही थीं।

वीरेन्द्र मोहन को याद आया, मिसेज वर्मा भाषण करती हैं, तो उनकी पतली लम्बी गर्दन के कर्व्स उत्तेजना पैदा करते हैं। उन्हें लगा, वे भीतर के ताप और उसके उद्वेलन-आन्दोलन से परीशान से हो रहे हैं। उन्होंने जेब से रूमाल निकाल कर ललाट का स्पर्श किया।

मिसेज़ वर्मा ने टोका—"यह अकेले चुपचाप क्या कर रहे हैं आप?" और तनिक रुक कर फिर कहा—"सुनिए, डिनर की व्यवस्था में थोड़ी देर और लगेगी। बॉल, हो जाए, तो कैसा रहेगा?"

वीरेन्द्र मोहन ने बड़ी मुश्किल से उनकी ओर देखते हुए कहा—"मुझे कोई एतराज़ नहीं।"

"हाँ।"—मिसेज वर्मा ने कहा—"तफरीह की तफरीह हो जाएगी और वक्त भी कट जाएगा।"

मिसेज वर्मा ने मिस बनर्जी से जाकर कुछ कहा और वीरेन्द्र मोहन ने सुना, एक अंग्रेजी धुन शुरू हो गई थी। उपस्थित स्त्री-पुरुष जोड़ों में बँट कर नृत्य प्रारम्भ कर चुके थे। वीरेन्द्र मोहन मिसेज वर्मा की प्रतीक्षा कर रहे थे कि मिस्टर चोपड़ा की तनी भरी भुजाओं ने मिसेज वर्मा को लपेट लिया। वे चुपचाप अलग खड़े नृत्य करते हुए जोड़ों को देखते रहे। कई जोड़े नाचते-नाचते उनके पास से गुज़रे।

सहसा मिस बनर्जी ने अपनी बाँह आगे बढ़ाते हुए कहा—"आइए!"

वीरेन्द्र मोहन ने एक क्षण मिसेज वर्मा की ओर देखा और फिर मिस बनर्जी की बाँह के सहारे खिंचकर उन्हें अपनी बाँह में लपेटते हुए नृत्य की धुन पर तिर गए। मक्खन के रंग की ऊनी साड़ी और कटी बाँहों के ब्लाउज मे मिस अल्पना बनर्जी बड़ी अच्छी लगीं।

नाचते-नाचते वे मिस्टर चोपड़ा और मिसेज़ वर्मा की बगल से गुजर गए।

मिस बनर्जी ने कहा—"इट्स डिलाइटफुल, इजेन्ट इट ?"

वीरेन्द्र मोहन ने कुछ नहीं कहा। वे देखते रहे।

वीरेन्द्र मोहन ने विकल होकर अपनी बगल में देखा। वहाँ मिसेज़ वर्मा मिस्टर चोपड़ा के साथ नाचते-नाचते आ गई थीं। मिस्टर चोपड़ा की एक बाँह उनकी कमर से लिपटी हुई थी और मिसेज वर्मा का बायाँ पाँव वृत्त बनाने के लिए तनिक ऊँचाई तक उठा हुआ था और साड़ी की परिधि से निकल कर फिल्ली के ऊपर का एक छोटा-सा हिस्सा रोशनी में चमक रहा था। नृत्य के आवेग में साड़ी का पल्ला मिस्टर चोपड़ा की बाँहों से लगकर कंधे से तनिक नीचे सरक गया था, पीछे की ओर सिर के तनिक झुक जाने के कारण पतली लम्बी गर्दन तन गई थी और सुनहरे वेलवेट की चोली के अन्तर्गत एक हल्की रेखा गहरी होते-होते डूब गई थी। वीरेन्द्र मोहन को अजीब लगा। यह क्या ? टेम्पटेशन······टेम्पटेशन इन पेरिस। किन्तु किताब खरीदते वक्त तो उसके चित्र में उन्होंने इसे कल्पित नहीं किया था।

सहसा संगीत की वह धुन रुक गई और मिस बनर्जी ने स्वयं को मुक्त करते हुए कहा—"ओवर !"

मिसेज़ वर्मा ने डिनर के तैयार होने की घोषणा करते हुए आकर कहा—"चलिए।"

वीरेन्द्र मोहन जैसे गहरी नींद से जगे हों। उन्होंने साश्चर्य मिसेज़ वर्मा की ओर देखते हुए सवाल किया—"कहाँ ?"

मिसेज़ वर्मा खिलखिलाकर हँस पड़ीं। बोलीं—"एक अज्ञात-

लोक में ले चल रही हूँ आपको, चलिए।" और अपना कथन समाप्त करते-करते वे फिर खिलखिलाकर हँस पड़ीं। वीरेन्द्र मोहन चकित-भरमाए-से चुपचाप उनके साथ चल पड़े।

कहकहों, किस्सों और चुहलों के बीच डिनर समाप्त हुआ। एक-एक कर लोग विदा होने लगे। मिस बनर्जी ने निमंत्रणभरी आँखों से वीरेन्द्र मोहन को देखते हुए कहा—"अच्छा, चलती हूँ, मगर कभी हमारे यहाँ भी आइए।"

वीरेन्द्र मोहन ने कहा—"अच्छा।" मगर उनसे उनकी ओर देखा न गया। वे चुपचाप सिर झुकाए दरवाजे की ओर बढ़ गए। मिसेज वर्मा दरवाजे पर खड़ी थीं और लोगों को विदा कर रही थीं। उन्हें देखते ही बोलीं—"रुकिए, मुझे छोड़कर ड्राइवर आपको पहुँचा आएगा।"

वीरेन्द्र मोहन रुक गए।

आधे रास्ते तक किसी ने कुछ नहीं कहा। शायद थोड़ी ही देर पहले वर्षा की फुहारें थमी थीं, हवा में कुछ ज्यादा सर्दी थी और वीरेन्द्र-मोहन एक किनारे सिकुड़े-सिमटे हुए-से बैठे थे।

मिसेज़ वर्मा ने इस खामोशी को तोड़ते हुए छेड़ा—"आप इस तरह कतराते क्यों हैं?"

"किससे?" वीरेन्द्र मोहन ने मिसेज वर्मा की ओर मुखातिब होते हुए अचरज भरे स्वर में सवाल किया।

"अरे, आप तो घबरा गये।" मिसेज़ वर्मा ने धीमे हँसते हुए कहा—"किससे क्या? हमसे।"

"यानी ...यानी आपसे?" वीरेन्द्र मोहन ने हकलाते हुए सवाल किया।

"मुझसे ही नहीं। या, फिर, यही समझिए।" इस बार मिसेज वर्मा हँसीं नहीं। उनका स्वर कुछ गंभीर मालूम हुआ।

वीरेन्द्र मोहन ने मिसेज़ वर्मा की ओर देखना चाहा, मगर जाने

क्यों नहीं देखा। इस प्रश्न से कतराने के ख़याल से कहा—"बड़ी सर्दी है, न?"

मिसेज़ वर्मा का घर आ गया था और ड्राइवर ने उतरकर दरवाज़ा खोल दिया था। मिसेज वर्मा ने कहा—"हाँ, सच, बड़ी सर्दी है। असुविधा या अपमान की बात न हो, तो एक प्याला गर्म कॉफी का मेरे यहाँ भी सही।"

सभ्यता का तकाजा और औरत का निमंत्रण, वीरेन्द्र मोहन को स्वीकार करना ही पड़ा। मिसेज वर्मा ने अन्दर प्रवेश करते हुए अपने कीमती सोफा सेट की ओर संकेत करते हुए आँखो-ही-आँखों बैठने का आग्रह किया। वीरेन्द्र मोहन चुपचाप बैठ गये एक किनारे—सिकुड़े-सिमटे, और जैसे अपने आवेगों से पलायन के लिए सामने की खुली खिड़की के पार देखने लगे, जिस पर लगा नन्हा-सा चीनी रेशम का परदा हवा के झोंकों से ऊपर की ओर उड़-उड़ जाता था।

मिसेज़ वर्मा ने अन्दर से लौट आकर वीरेन्द्र मोहन के बगल मे बैठते हुए जिज्ञासा की—"बड़ी सर्द हवा आ रही है, न? खिड़की बंद कर दूँ?"

"जी?" जैसे अपने ख़यालों से टूटते हुए चौंक कर वीरेन्द्र मोहन ने कहा—"जी नहीं। ऐसी तो कोई बात नहीं।" और फिर, जैसे अपने कथन की निरावरण निरर्थकता से झेंपते हुए कहा—"आप को सर्दी लगती हो तो बन्द कर दीजिए।"

वीरेन्द्र मोहन ने अपनी कलाई में बँधी घड़ी पर नज़र डाली। जाड़े की रात वर्षा की फ़ुहारों के कारण और भी गहरी हो गई थी। जाने क्यों, उनका जी घबराने लगा। रात के ग्यारह बजे मिसेज़ वर्मा अपनी मक्खन-जैसी पतली-लम्बी गर्दन तनिक उनकी ओर मोड़ते हुए अपनी बड़ी-बड़ी तंद्रिल आँखें उनके चेहरे पर टिका कर सवाल कर रही थीं—"आपको कुछ असुविधा हो रही है क्या?"

वीरेन्द्र मोहन ने बड़ी मुश्किल से इस सवाल को झेलते हुए कहा—

"नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। रात ज्यादा हो गई है और नौकर मेरा इंतजार कर रहा होगा।"

"ओ···ऽ···ह।" मिसेज़ वर्मा ने कहा और फिर एक अजीब खामोशी छा गई। मिसेज वर्मा ने उठकर खिड़की का पल्ला लगा दिया और अपना ऊनी कोट उतारकर फिर उनकी बगल में आ बैठीं। वीरेन्द्र मोहन को याद आया, क्लब के हॉल की दीवार में लगे हैंगर से लटकते हुए इस कोट की रोएँदार कोमलता, एक क्षण विशेष में, जब नृत्य शुरू हो गया था और मिस्टर चोपड़ा की बाँह में खिंचकर मिसेज़ वर्मा लिपट गई थीं और वे अकेले दीवार से लग कर खड़े-खड़े चुपचाप उन्हें देख रहे थे, उनके मन-प्राणों में भर गई थीं और एक अव्याख्येय इच्छा सहसा जग उठी थी कि वे उस कोट की रोएँदार कोमलता से स्वयं को आद्योपांत ढँकते हुए गति एवं आवेगों के इस पहर में सहसा एक विराम में परिवर्तित हो जाएँ।

वीरेन्द्र मोहन की चिंता टूटी और अपने मन की आविष्टि से स्वतंत्र होते हुए महज़ कुछ बात करने के इरादे से उन्होंने मिसेज वर्मा से सवाल किया—"और कौन-कौन हैं आपके परिवार में ?"

मिसेज वर्मा को शायद यह सवाल पसन्द आया और उन्होंने मंद-मंद मुस्कराते हुए कहा—"मेरे परिवार में ? बस, मैं हूँ, एक मेड सर-वेंट है और यह ड्राइवर है।"

वीरेन्द्र मोहन को यह हल्का विटी जवाब पसन्द आया और उन्होंने अनुभव किया कि इस जवाब के बाद वे बहुत कुछ सहज हो आये हैं। उन्होंने वातावरण के इस हल्केपन को और भी विस्तीर्ण करते हुए कहा—"वाह, और मिस्टर वर्मा ? उन्हें तो आप भूल ही गईं।"

मिसेज़ वर्मा ने जोर का एक ठहाका लगाया। वीरेन्द्र मोहन ने विस्मय-चकित आँखों से उन्हें देखा। मिसेज़ वर्मा का हँसते-हँसते बुरा हाल था। उनकी मक्खन-जैसी पतली लम्बी गर्दन में कण्ठ के पास बड़े वेग से कुछ काँप रहा था। उसके बाद चोली के अन्तर्गत एक

हल्की रेखा गहरी होते-होते डूब गई थी। हँसते-हँसते पेट से हँसी छाती पर चढ़ती जा रही है और वहाँ....।

वीरेन्द्र मोहन को लगा, उनकी शिराएँ रक्त के चाप से फट जाएँगी। उन्होंने घबरा कर अब मिसेज वर्मा के कंधे को छूते हुए कहा—"सुनिए, रुकिए, यह क्या हो गया है आपको ?"

मगर मिसेज़ वर्मा पर तो जैसे भूत सवार हो गया था और वे "सिली, सो सिली" कह कर फिर वैसे ही हँसने लगती थीं। वीरेन्द्र मोहन को भय मालूम हुआ। उन्होंने उठकर दोनों हाथों से उनके कंधे को पकड़कर झँझोरते हुए उन्हें शांत करने की कोशिश की, मगर जैसे-जैसे उनकी पकड़ कड़ी होती गई और उनका भयमिश्रित आवेग बढ़ता गया, मिसेज वर्मा की हँसी भी बढ़ती गई।

उन्होंने एक ही झटके में मिसेज़ वर्मा को खींचकर अपनी भुजाओं में भर लिया और उन्हें शांत करने की प्रक्रिया में किसी अज्ञात प्रवृत्ति के प्रभाववश उन्हें मींचते चले गये।

यकायक तनिक सँभलते हुए मिसेज़ वर्मा ने उन भुजाओं के कठिन आश्लेष की पीड़ा से स्वयं को मुक्त करने के लिए वीरेन्द्र मोहन को एक हल्का-सा झटका दिया, किंतु, जाने क्या हुआ कि वे वीरेन्द्र मोहन की भुजाओं में उसी तरह कसी हुई कोच पर गिर पड़ीं।

मिसेज वर्मा के गले से क्रमशः रुँधती हुई खिलखिलाहट की आवाज निकल रही थी और उनकी बड़ी-बड़ी तंद्रिल आँखें फैलती जा रही थीं और उनमें रक्त भरता जा रहा था।

सहसा एक ज़ोर की चीख़ और काँच के बर्तनों के गिरकर टूटने की आवाज से चौंक कर होश में आते हुए वीरेन्द्र मोहन मिसेज़ वर्मा को झटक कर उठ खड़े हुए। मिसेज वर्मा कोच पर प्रायः अचेतन-सी बेहद थकी हुई पड़ी थीं और उनकी बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमें रक्त भर आया था, आश्चर्य और घृणापूर्वक उनके चहरे पर टिकी थीं। बीरेन्द्र मोहन की समझ में कुछ नहीं आ रहा था। मिसेज़ वर्मा की

मक्खन-जैसी पतली लम्बी गर्दन पर अँगुलियों के नीले निशान चमक रहे थे और उसकी मेड सरवेंट चिल्ला रही थी—"यू ब्रूट, गेट आउट।"

वीरेन्द्र मोहन ने एक बार फिर मिसेज़ वर्मा की ओर देखा और चुपचाप दरवाज़ा खोल कर बाहर निकल पड़े। तब भी हल्की वर्षा हो रही थी। उन्होंने लंदन में बड़े चाव से सिलवाए हुए सूट की ओर से बेपरवाह होकर तेज़ क़दमों से चलना शुरू कर दिया।

अपने कमरे में लौट आकर वे ईज़ीचेयर पर पड़ गए। उनकी समझ में कुछ नहीं आ रहा था। उनके कानों में अब भी मिसेज वर्मा के मेड सरवेंट की आवाज गूँज रही थी—"यू ब्रूट! यू ब्रूट!"

वीरेन्द्र मोहन ने अपने सिर को ज़ोर का झटका दिया और थोड़ी देर पहले हुई घटना से टूटने के लिए उन्होंने ईज़ीचेयर की बाँह पर पड़ी किताब उठा ली, मगर ज्यों तनिक सजग होकर उस किताब के स्पर्श का अनुभव किया, लगा कि कोई साँप डस गया और भय से उनके सारे शरीर में झुरझुरी दौड़ गई। चित्र; उफ! कितना विचित्र और कितना संभावित चित्र!

काली साड़ी : लाल गुलाब

पिछले छः वर्षों से मैं मोना को देख रहा हूँ। रोज़ कई-कई बार उससे बातें करने का अवसर मिलता है। मेरा खयाल है, कि मोना बहुत सुन्दर है। वह बहुत कम और बहुत मीठा बोलती है। जब कभी वह हमारे सामने आ खड़ी होती है, तो मौत की ओर बढ़ती हुई ज़िंदगी में भी एक अनजानी तृष्णा भर जाती है। फिर भी, जाने क्यों, जब कभी मैं उसे देखता हूँ, तो मुझे एक ही साथ बड़े विचित्र ढंग से दो प्रकार की अनुभूति होती है। मैं अनुभव करता हूँ, कि मेरे भीतर सहसा कहीं कुछ स्पंदित हो उठता है, किंतु ज्यों ही मेरी सतृष्ण आँखें उसके रूप से तृप्त होने के लिए व्याकुल होकर उसकी ओर मुड़ती हैं, मेरे मन में एक दहशत-सी समा जाती है। जाने क्यों, उसके सफेद ब्लाउज में बड़े कौशल से उरोंजों के बीच रेशमी धागों से बनाए हुए बटनहोल में ताज़ा लाल गुलाब और गोरी कलाई में बँधा हुआ काले रंग का रूमाल मुझे अच्छा नहीं लगता।

मोना मुस्कराती हुई आती है, तबीयत का हाल पूछती है, मजाक करती है, सान्त्वना और धैर्य की बातें करती है, टेम्परेचर लेती है, दवा पिलाती है, और चली जाती है। मैं उसके किसी भी प्रश्न का चाह कर भी पूरा उत्तर नहीं दे पाता, एक पल भी उसकी आँखों में आँखें डालकर नहीं देख सकता। वह चली जाती है, और मैं पीड़ित होकर रह जाता हूँ।

आज की रात, मैं जानता हूँ, मोना ड्यूटी पर है। मुझे नींद नहीं आ रही है। जब कभी मोना ड्यूटी पर होती है, मुझे नींद नहीं आती। मैं आँखें बंद किए उसकी प्रतीक्षा में लेटा हूँ, और बगल के बेड पर डॉक्टर श्रीवास्तव, जो कल ही आए हैं, बुरी तरह खाँस रहे हैं। इस

कमरे में जो भी आता है, इसी तरह खाँसता है। गत छः वर्षों में तीन बेड वाले इस कमरे में एक मेरा ही बेड है, जो कभी खाली नहीं हुआ, नहीं तो हर तीसरे-चौथे महीने इस कमरे का कोई-न-कोई बेड अचानक ज़रूर खाली हो जाता है। उस दिन भी मुझे नींद नहीं आती।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने खाँसते-खाँसते थक कर, धीमे कराह-भरे स्वर में कहा—"पानी।"

मोना आ गई।

मैंने चाहा कि करवट बदल कर देखूँ।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"धन्यवाद !"

मोना की आवाज तनिक रुक कर सुनाई पड़ी—"इसकी जरूरत नहीं। आप आराम कीजिए।"

मोना मुस्करायी होगी। उसने उरोजों के बीच बटनहोल का गुलाब टोक किया होगा। डॉक्टर श्रीवास्तव को सहारा देकर लिटा दिया होगा। मैंने चाहा कि करवट बदल कर देखूँ। मोना चली गई होगी। मैं चुपचाप आँखें मूँदे, पड़ा-पड़ा सपने बुनता रहा।

सहसा डॉक्टर श्रीवास्तव की आवाज कानों में पड़ी—"अच्छा, नर्स, ज़िंदगी के प्रति मेरे मन में कोई मोह नहीं है, लेकिन ऐसा क्यों है, कि यह जानते हुए कि मैं मर जाऊँगा, मैं मरना नहीं चाहता ?"

मोना ने कहा—"हिश् ! आप डॉक्टर हो कर ऐसी बातें करते हैं ?"

तो मोना गई नहीं है। मैंने चाहा, कि करवट बदल कर देखूँ।

शायद कोई नौकर था। उसने कहा—"मेम साहब, वार्ड नम्बर दो का रोगी बुलाता है।"

मोना ने कहा—"आयी।"

क्षण भर बाद मोना भी चली गई। यह पगध्वनि मेरी परिचित है।

नौकर चला गया।

मैंने करवट बदल कर, डॉक्टर श्रीवास्तव के बेड की ओर देखा। वे छत पर आँखें टिकाए, जाने क्या सोच रहे थे। कुछ दिनों पूर्व वे बड़े स्वस्थ और सुन्दर दीखते होंगे। मैंने आँखें बंद कर लीं। मुझसे यह सपना नहीं देखा जाता।

यहाँ आने के पूर्व एक बार मैंने प्रेम किया था। उससे मैंने एक दिन सवाल किया था—"सुनो, तुम मेरे साथ आत्महत्या कर सकोगी?" उसने मेरे होठों पर अपनी नरम पतली अँगुली रख दी थी। कहा था, "हिश्! ऐसी बातें न करनी चाहिए।"

मैं जिज्ञासु हूँ। डॉक्टर श्रीवास्तव ने आगे क्यों नहीं पूछा, "ठीक है, मैं डॉक्टर हूँ, पर मुझे ऐसी बातें क्यों नहीं करनी चाहिए?"

मैं जिज्ञासु हूँ। मैं यह प्रश्न नहीं कर सका था। मोना क्या उत्तर देगी?

मैंने फिर करवट बदली। मैं सोना चाहता हूँ। मुझे नींद नहीं आती। मुझे औरत के शरीर की गंध का अनुभव होता है, स्पर्श का अनुभव होता है। उसकी साड़ी के फुरहरे के फैलाव का अनुभव होता है। मोना साड़ी नहीं पहनती। मोना साड़ी क्यों नहीं पहनती? काले रंग की साड़ी में मोना का गोरा तन कितना उन्मादक लगेगा।

काले रंग की साड़ी! आह्लादक अनुभूति की प्रक्रिया में एकाएक मुझे झटका-सा लगा। फिर सहसा मेरे मन में एक दहशत-सी समा गई।

डॉक्टर ने एक दिन मेरे छोटे भाई के सम्मुख मेरे संबंध में निराशा व्यक्त की थी। दूर से वह धीमा स्वर भी मैंने जाने कैसे सुन लिया था। आधी रात को मुझे एक बड़ी सुन्दर स्त्री अपने काले आँचल में लपेट कर उठा ले गयी थी। उसके तन का स्पर्श, उसके तन की गंध मैं नहीं भूल पाता। वह तन उर्वशी का था। किन्तु जाने क्या हुआ, कि आकाश तक पहुँचते-पहुँचते मैं उसके आँचल से

फिसल गया। नींद टूटी, तो तकिए के किनारे मुझे कुछ भीगा-भीगा-सा लगा। मैंने बटन दबा कर नर्स को बुलाया। बिजली की रोशनी में मैंने देखा—रक्त गुलाब।

मैंने बड़ी बेचैनी का अनुभव किया। डॉक्टर श्रीवास्तव ने फिर खाँसना शुरू कर दिया था। मैंने चाहा कि करवट बदल कर देखूँ।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने खाँसते-खाँसते थक कर, धीमे कराह-भरे स्वर में कहा—"पानी।"

तो मोना कब आई?

मोना ने कहा—"ठीक है। इसकी कोई ज़रूरत नहीं। आप सोने की कोशिश कीजिए।"

मेरे जी में आया, कि मैं रोऊँ। बड़ा मन किया, कि मैं रोऊँ। घर याद आता है। अपना कमरा याद आता है। अपने कमरे की खिड़की याद आती है। खिड़की का नीला परदा याद आता है। नीले परदे की रचयिता याद आती है। उसका हँसना याद आता है। उसका रोना याद आता है।

मेरे कमरे में पलँग के निकट एक छोटे गोल टेबिल पर प्लास्टिक का लिली के फूलों का एक गुच्छा था। उसके निकट पीतल की एक गौरैया थी। गौरैये के मुख में एक छोटा-सा तिनका था। जाने कहाँ नीड़ बनता?...मुझसे यह कल्पना नहीं की जाती।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"सोना ही तो है मुझे, नर्स। इसलिए भरसक जगने को जी चाहता है।"

मुझे बड़ी व्यथा हुई। मैंने उत्तर की प्रतीक्षा की। मोना ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह चुपचाप खड़ी, डॉक्टर श्रीवास्तव को सहानुभूतिपूर्ण आँखों से देख रही होगी। उसका गला रुँध गया होगा! उसकी पलकें तर हो गई होंगी। अकसर वह हमारी निराशा से पीड़ित होकर रो देती है। मैंने चाहा कि करवट बदल कर देखूँ।

मोना की काँपती व्यथा-रुद्ध आवाज सुन पड़ी—"यह सब नहीं सोचा करते, डॉक्टर—नहीं, यह सब नहीं सोचा करते।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने आगे कुछ नहीं कहा।

यह पगध्वनि मेरी परिचित है। मोना चली गई। एक बार मैंने एक नृत्य देखा था—'निरीक्षण'। युवक बैठा हुआ है, और युवती वरण के पूर्व उसका निरीक्षण करती है। युवती के अलक्तचित्रित चरण, उसके तलुवों की रक्तिमा, उनके उठने-गिरने की लयात्मक योजना आज भी मेरी आँखों में रह-रहकर तिर आती है। विश्वामित्र को उत्तेजित, तपभ्रष्ट करने के लिए मेनका के थिरकते हुए रक्तवर्ण चरण....एक चित्र देखा था। मेनका के तन की गंध आती है, पारिजात के फूलों की गंध आती है। विश्वामित्र का ध्यान टूटता है। मोना चली जा रही है।

बड़े डॉक्टर ने शाम के राउंड पर भगवान को धन्यवाद देते हुए कहा था—"आप अब निश्चिन्त रहिए, प्रसन्न रहिए। चार-छः महीनों में आप घूमने-फिरने लायक हो जाएँगे।"

ठीक है। ठीक है। किन्तु तब क्या होगा? मैंने बड़ी बेचैनी का अनुभव किया। करवट बदल ली।

डॉक्टर श्रीवास्तव छत पर आँखें टिकाए, जाने क्या सोच रहे थे। जाने कब मुझे नींद आ गई। नींद टूटी, तो सुबह हो चुकी थी। और मोना की जगह एक दूसरी नर्स कलाई में बँधी घड़ी पर दृष्टि जमाए, मेरी नाड़ी की गति गिन रही थी।

मैंने उसके चेहरे को गौर से देखते हुए, सवाल किया—"नर्स, क्या वक्त हो रहा है?"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने उत्तर दिया—"आठ से कुछ ज्यादा हो गया है।"

नाश्ता करके लेटा ही था, कि डॉक्टर श्रीवास्तव ने पुकारा—"राजेन बाबू!"

डॉक्टर श्रीवास्तव को मेरा नाम कैसे मालूम हुआ? मैंने तो बताया नहीं था। मैंने कहा—"हूँ।"

"आप प्रोफेसर थे न?"

"जी। शुरू ही किया था।"

ज़रूर मोना ने ही बताया होगा। एक दिन उसने भी यही प्रश्न किया था।

"क्या पढ़ाते थे आप?"

"मनोविज्ञान।"

"तब तो अच्छा है। हम कभी-कभी बातें किया करेंगे। मेरी भी मनोविज्ञान में बड़ी दिलचस्पी थी।"

बड़े डॉक्टर राउंड पर आ रहे हैं—वार्ड के नौकर ने आकर सूचना दी। मैंने करवट बदल कर देखा—डॉक्टर श्रीवास्तव ने सिरहाने से अख़बार निकाल कर, पढ़ना शुरू कर दिया था। गोरा रंग पीला पड़ गया था। कभी बड़ा भव्य व्यक्तित्व रहा होगा डॉक्टर का। मैंने चाहा, कि टोकूँ, बातें करूँ।

मैंने चित लेटकर, आँखें छत पर टिका दीं। मुझसे अख़बार नहीं पढ़ा जाता। रोज़-रोज़ की नई-नई बातें मुझे व्यथित करती हैं। अब प्रत्येक आकर्षण मुझे व्यथित करता है।

यह पगध्वनि मेरी परिचित है। मोना की आवाज़ सुन पड़ी—"हेलो, डॉक्टर, कैसी तबीयत है आपकी?"

मुझे आश्चर्य हुआ। रात भर की ड्यूटी के बाद मोना तो घर गई थी।

डॉक्टर श्रीवास्तव के स्वर में एक अपरिचित आह्लाद था। "हूँ।....किंतु तुम—आप?"

मोना ने कहा—"इधर आयी, तो सोचा कि आपको देखती चलूँ। रात भर आप सोए नहीं।"

रात बड़ी देर तक मैं भी नहीं सोया। सोया ही नहीं गया।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"इस सहानुभूति के लिए शुक्रिया !"

मोना चली गई।

बड़े डॉक्टर आए। मुझे फिर उत्साहित किया। नर्स ने आकर इंजेक्शन्न् दिया।

मैंने सिर घुमा कर देखा—नर्स के सहारे दवा पीकर, डाक्टर श्रीवास्तव ने पलकें बंद कर लीं।

दो-तीन साल पहले इसी बेड पर एक बंगाली युवक आया था। बाइस-तेइस का होगा। सम्पन्न घर का था। माँ-बाप, भाई-बहन, सब उसे घेरे रहते। रोज़ शाम को जब उसके घर के लोग चले जाते, तो एक लड़की उससे मिलने आती। दोनों चुपचाप एक-दूसरे को घंटों देखते रहते। आँखों से आँसू बहते रहते। किंतु कभी दोनों ने बातें की हों, याद नहीं पड़ता। पता नहीं, वह लड़की उसकी कौन थी। शायद प्रेमिका थी, या वाग्दत्ता रही हो। एक दिन ऐसे ही नर्स के सहारे दवा पीकर वह लेट गया। धीरे-धीरे उसने पलकें बंद कर लीं। वह बड़ी देर तक प्रतीक्षा करती रही। रात गहरी हो गयी। उसने आवाज दी। कोई उत्तर न मिला। नर्स आयी। डॉक्टर आए। वह चीख उठी—"ए की करले बालाई, ए की करले ?"

एकाएक एक विचित्र प्रकार का भय मेरे रोम-रोम में समा गया। घबराकर मैंने आवाज़ दी—"डॉक्टर !"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने पलकें खोलकर मेरी ओर देखा।

मुझे यह अच्छा लगा। मैंने जिज्ञासा की—"सो गए थे क्या ?"

"नहीं," डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"मन के सुख के लिए एक फैंटेसी की रचना कर रहा था।"

मैंने कहा—"कभी-कभी यों चुपचाप पड़े-पड़े जी बड़ा घबराने लगता है।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कोई उत्तर नहीं दिया।

मैं प्रतीक्षा करता रहा। सहसा मेरा मन हुआ कि कुछ अनहोना

हो जाए। मैं रोगमुक्त हो जाऊँ। मुझमें अपार शक्ति जग उठे। मैं उठूँ, और चल दूँ। यह सेनिटोरियम छूट जाये। यह नगर छूट जाये। यह देश छूट जाये। संसार छूट जाये। मैं चलता चला जाऊँ। मेरे सम्मुख बस विस्तार हो—अपार, अनन्त विस्तार...मुझे लगा, कि किसी ने विकल होकर मुझे पुकारा। यह स्वर मैं चीन्हता हूँ। किन्तु किसका स्वर है? मोना मुझे पुकारती है।...वर्षों पूर्व यहाँ आने के क्षण में मेरी वह अनामा मुझे पुकारती है। नहीं, सुनो, यों न रोओ। तुम्हारे सम्मुख सिर्फ मैं ही नहीं हूँ—ये इतने आकर्षण हैं। मैं यात्री हुआ हूँ। यात्री की प्रतीक्षा नहीं करते। उसके लिए रोया नहीं करते। यह लगाया हुआ बिरवा सूख जाएगा। मैं नहीं लौटूँगा। इस यात्री को आशीर्वाद दो, अनाकांक्षित ही जाने दो।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने मुझे पुकारा—"राजेन बाबू!"

"हूँ," मैंने कहा।

"आपने कभी अमावस्या की गहरी रात में अकेले पहाड़ की निर्जन घनी तराई की यात्रा की है!"

"नहीं तो।"

"बड़ा विचित्र लगता है। शरीर और मन जैसे अलग-अलग हो जाते हैं।"

"हूँ।"

डॉक्टर श्रीवास्तव चुप हो गए। मुझे लगा, कि छत पर आँखें टिकाए-टिकाए मैं थक गया हूँ, और मुझे नींद आ रही है।

"क्या वक्त हो रहा होगा?" मैंने जिज्ञासा की।

"दो के करीब हो रहा है," तनिक रुक कर, डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा। मैंने सोने के लिए करवट बदली।

मेरा एक छोटा-सा घर है। उस घर में एक छोटा-सा कमरा है। कमरे में एक खिड़की है। खिड़की पर नीले रंग का परदा है। परदे के निकट उसकी रचयिता खड़ी है। उसके हाथों में एक सद्यः प्रस्फुटित

गुलाब का फूल है। मैंने उसे वचन दिया है—वह गुलाब का फूल मेरा है। गुलाब के फूल से बड़ी उन्मादक गंध आ रही है। मैं उस फूल को स्पर्श करना चाहता हूँ, उसकी गंध से भीगना चाहता हूँ। मैंने वचन दिया है—वह गंध मेरी है। सुनो, मेरी ओर यों छलछलायी आँखों से न देखो। मैंने वचन दिया है, किंतु मात्र मैं ही नहीं हूँ, ये इतने आकर्षण हैं। इनकी ओर देखो। मुझे यह फूल दे दो। बस, यह गंध दे दो। बस।...

चौंका। डॉक्टर श्रीवास्तव ने बड़े आग्रहपूर्ण स्वर में कहा—"नर्स, तुम साड़ी नहीं पहनतीं ?"

मोना खिलखिला कर हँस पड़ी। बोली—"यह अस्पताल है, डाक्टर, यहाँ साड़ी नहीं चलती।"

मोना खिलखिलाकर हँसती है, तो जी करता है, कि उसे देखता ही रहूँ। मैंने चाहा, कि करवट बदल कर देखूँ।

तनिक रुक कर, मोना ने सवाल किया—"कैसी तबीयत है आपकी ?"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"हूँ।....बैठो।"

मोना ने कहा—"आऊँगी। ज़रा सब को देख लूँ।"

गुलाब के फूल से बड़ी उन्मादक गंध आ रही है। मोना चली गई।

मैंने करवट बदल कर देखा—डॉक्टर की अँगुलियों में गुलाब का ताजा फूल पड़ा था। इस शीघ्र एवं अप्रत्याशित आत्मीयता पर आश्चर्य हुआ।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने मेरी ओर देखते हुए कहा—"राजेन बाबू, आपको गुलाब का फूल कैसा लगता है ?"

बड़ा अच्छा लगता है, डॉक्टर, बड़ा अच्छा लगता है। मैंने उसे वचन दिया है—वह गुलाब का फूल मेरा है।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने अपना प्रश्न दोहराया। मैंने कहा—"बड़ा अच्छा लगता है।"

"लेकिन मुझे अच्छा नहीं लगता," डॉक्टर श्रीवास्तव ने तनिक ठहर कर कहा—"सुपर्स्टिशन ही कह लीजिए, लेकिन जिस दिन मेरे गमले के पौधे में गुलाब खिला, उसी दिन मैंने पहले-पहल रक्त वमन किया।"

मुझे एक झटका-सा लगा। कैसा विचित्र व्यक्ति है यह डॉक्टर। कितने मन से उस गुलाब से उलझा हुआ है। मैंने विवेकानन्द को नहीं पढ़ा, किन्तु 'श्यामापरक' कविताओं का पाठ सुना है। कुछ ऐसी ही मृत्यु के प्रति रति-भावना उनमें भी रही होगी।

मैंने दृष्टि घुमा ली।

पल बीते। दिन बीते। एक महीना गुजर गया।

एक दिन आधी-रात को नींद टूटी, तो डॉक्टर श्रीवास्तव का धीमा स्वर सुन पड़ा—"नर्स, एक बात पूछूँ? बुरा तो नहीं मानोगी न?"

बड़ा कातर स्वर। मैंने कोशिश की, किन्तु फिर सोया न गया।

मोना ने कहा—"पूछिए। नहीं मानूँगी बुरा।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"तो, बुरा न मानना, सच। मैं जानता हूँ, कि तुम मेरी कोई नहीं हो। यहाँ पहुँचकर कोई नाता जोड़ूँ, यह शायद उचित भी नहीं है। फिर भी तुम आती हो, तो अच्छा लगता है, बहुत अच्छा लगता है। इसीलिए मैं तुमसे एक बात पूछना चाहता हूँ। सच-सच कहना, मेरा मन रखने के लिए झूठ न बोलना। मैं मर जाऊँगा, तो तुम्हें दुख होगा, रोना आएगा?"

मुझे लगा, किसी ने मुझे दो बिंदुओं के बीच तान दिया है।.... मोना बोलती क्यों नहीं?

मोना नहीं बोली। मैं प्रतीक्षा करता रहा। नहीं मुझसे यह नहीं

सहा जाता। मेरा दिल धड़क रहा है। एक अजीब बेकली-सी मुझमें भरती जा रही है।

तनिक रुक कर, मोना की सिसकी सुन पड़ी। यह क्या है! मोना तो हँसती है, केवल हँसती है। मोना रोती नहीं। यह डॉक्टर ने क्या कर दिया है, क्या कर रहा है? न, यों न रोओ। तब मुझसे जिया न जाएगा।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने टोका—"रोती हो, नर्स?...छिः, मेरे लिए रोने का कोई अर्थ है? मैं तो पागल हूँ। जाने कैसी बातें किया करता हूँ! उनका खयाल नहीं करना चाहिए।"

मोना की सिसकी और तेज हो गई।...वह बंगाली लड़की चीख उठी—"ए की कर ले बालाई, ए की करले?"

मेरे रोम-रोम में यह सिसकी भरती जा रही है। मेरे रोम-रोम में वह चीत्कार भरता जा रहा है। रोकते-रोकते मेरे मुख से एक चीख-सी निकल गई।

मोना दौड़कर मेरे पास आ पहुँची। पूछा—"क्या हुआ, राजेन बाबू?"

मैंने बराम्दे से आ रही हल्की रोशनी में देखा—मोना की आँखें अब भी गीली थीं, और कपोलों पर आँसू की रेखाएँ चमक रही थीं।

मैंने कहा—"कुछ नहीं।....सपना देखा था, बड़ा भयानक सपना।"

डाक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"ओ—ह!"

मैंने करवट बदल ली। मोना चली गई। किन्तु मुझसे फिर सोया न गया।

अब आज जब कि मैं बड़े डाक्टर के द्वारा उत्साहित किया जाकर, फिर धीरे-धीरे ज़िदगी की ओर उन्मुख हो रहा हूँ, ऐसा निराश्रित मोह मुझे पीड़ित करता है। मैं नहीं जानता कि बड़े डाक्टर का कथन

कितना सच है। जो भी हो, इन उत्साहित कल्पनाओं के क्षणों में मुझे मृत्यु का यह आवाहन, मृत्यु की यह प्रतीक्षा आतंकित करती है।

तीन-चार दिन बीत गये। मोना नहीं दीख पड़ी। सुना कि मोना छुट्टी पर है। मुझे अच्छा लगा। न, मुझमें कहीं तनिक भी ईर्ष्या नहीं है। मोना मुझे अच्छी लगती है। डाक्टर भी एक हद तक मुझे अच्छा लगता है। दोनों का यह सम्पर्क, यह प्रीति अच्छी लगती है। किन्तु उनका संभाषण अच्छा नहीं लगता। उसके शब्द मुझे मृत्यु की ओर प्रेरित करते हैं।

मुझे आश्चर्य हुआ। इस बार मोना कुछ उतरी-उतरी-सी उदास-उदास-सी लगी। मैंने चाहा कि पूछूँ।

डाक्टर श्रीवास्तव ने प्रश्न किया—"क्या बात है, नर्स?"

मैंने चाहा ही था, कि डाक्टर की ओर करवट बदल कर देखूँ, कि रुक गया।

मोना ने आहिस्ता से कहा—"क्यों, क्या है?"

"कुछ नहीं। यों ही," तनिक रुक कर, डाक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"मुझे उदासी अच्छी नहीं लगती।"

यह पगध्वनि मेरी परिचित है। मोना चली गई। मैंने करवट बदल कर देखा—डाक्टर श्रीवास्तव की आँखें छत पर टिकी थीं।

डाक्टर श्रीवास्तव ने वैसे ही छत की ओर देखते हुए, मुझे पुकारा—"राजेन बाबू!"

"हूँ।"

"आपको कभी ऐसा लगा है, कि आपने बड़े आग्रह से किसी से कुछ कहना चाहा है, और लाख कोशिश करके भी आप कुछ नहीं कह पाये?"

"अकसर।"

"तो, उस क्षण आपको कैसा लगा है?"

"शब्दों में शायद न कह सकूँ। किन्तु ऐसे अवसर पर एक अजब-सी बेचैनी मेरे मन-प्राणों में भर गई है।"

डॉक्टर श्रीवास्तव खामोश हो गए। मैंने प्रतीक्षा की। किन्तु बड़ी देर तक डॉक्टर श्रीवास्तव ने कुछ नहीं कहा। वैसे ही वे छत पर आँखें टिकाए लेटे रहे।

"क्या सोच रहे हैं?" मैंने टोका।

"कुछ नहीं," डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"दरअसल सोच नहीं हा हूँ, अनुभव कर रहा हूँ।"

मैं चुप रहा।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने ही कहा—"उसी बेचैनी का अनुभव कर रहा हूँ। इस नर्स को वर्षों से जानता हूँ। किन्तु जब इसे देखता हूँ, कुछ ऐसी ही बेचैनी का अनुभव करता हूँ।"

मैं ठगा-सा रह गया। इस कथन में कहीं कुछ अप्रत्याशित नहीं है।

ड्यूटी से जाने के पहले मोना आयी। मैंने पगध्वनि सुनते ही करवट बदल ली।

मोना ने कहा—"जाती हूँ, डॉक्टर।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"क्यों, क्या वक्त हो रहा है?" डॉक्टर श्रीवास्तव के स्वर में जाने कैसी एक अपरिचित कातरता का अनुभव मुझे हुआ।

मोना आज उदास है। फिर भी वह मुस्करायी होगी। उसके लाल पतले होंठ तनिक फैल गये होंगे। उसने डॉक्टर को विवशतापूर्वक बड़े प्यार से देखा होगा।

मोना ने कहा—"रात काफ़ी हो गई। आठ बज रहा है।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कोई उत्तर नहीं दिया।

मोना विवशतापूर्वक बड़े प्यार से डॉक्टर को देख रही होगी।

मेरे कमरे की चारपाई के निकट एक छोटे गोल टेबिल पर

प्लास्टिक का लिली के फूलों का एक गुच्छा था। उसके निकट पीतल की एक गौरैया थी। गौरैये के मुख में एक छोटा-सा तिनका था। जाने कहाँ नीड़ बनता ? मुझसे यह कल्पना नहीं की जाती।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"जाओ।"

पगध्वनि नहीं हुई। मोना खड़ी है।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने फिर कहा—"जाओ।"

मुझे अपना घर याद आता है। अपना कमरा याद आता है। अपने कमरे की खिड़की याद आती है। खिड़की का नीला परदा याद आता है। नीले परदे की रचयिता याद आती है। उसका यों चुपचाप मुझे देखना याद आता है। उसका हँसना याद आता है। उसका रोना याद आता है।

मोना चली गई।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने मुझे पुकारा—"राजेन बाबू !"

"हूँ।"

"मैं जानता हूँ, कि मैं मर जाऊंगा।"

"छिः ! ऐसी बातें नहीं किया करते।"

"नहीं, सच। मैं कभी झूठ नहीं बोलता।"

"भगवान् करे, यह झूठ हो !"

"भगवान् !"

मैंने करवट बदल ली। मुझे इन बातों से बड़ा भय लगता है।

सबेरे तड़के ही नींद खुल गई। डॉक्टर श्रीवास्तव बुरी तरह खाँस रहे थे। नर्स उनके पास ही खड़ी थी। डॉक्टर श्रीवास्तव का मुख खाँसते-खाँसते लाल हो गया था। मेरे मन में सहसा डॉक्टर के प्रति एक विचित्र भावुकता-सी भरने लगी। मुझे लगा कि मैं रो दूँगा। मैंने आँखें दूसरी ओर फेर लीं।

बड़े डॉक्टर आए। इंजेक्शन दिया गया। बड़ी देर बाद डॉक्टर श्रीवास्तव की तबीयत कुछ सुधरी।

मुझे अच्छा लगा। मैंने चाहा कि उनसे बातें करूँ, उनकी तबीयत का हाल पूछूँ। लेकिन वे इतने थके-से लग रहे थे, कि पूछते न बन पड़ा। चुपचाप पड़ा-पड़ा सोचता रहा।

नर्स ने आकर दवा पिलायी। तो चार बज गया? मैंने मुड़कर डॉक्टर की ओर देखा। वे वैसे ही चित लेटे हुए थे, और उनके हाथों में एक कागज का छोटा-सा बंडल दबा था।

मैंने जिज्ञासा की—"अब कैसी तबीयत है आपकी?"

"हूँ—बस," डॉक्टर श्रीवास्तव ने वैसे ही छत की ओर देखते हुए कहा।

उफ़, तुमसे कैसे कहूँ, डॉक्टर? मुझे भय लगता है। ऐसी बातें न किया करो। मैंने आगे नहीं पूछा।

तनिक देर बाद डॉक्टर श्रीवास्तव ने मुझे धीमे स्वर में पुकारा—"राजेन बाबू!"

"हूँ।"

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"ज़रा इसे देखिए तो।" और वह बंडल मेरी ओर उछाल दिया।

मैंने उसे खोलते हुए पूछा—"क्या है?"

"देखिए न," डॉक्टर श्रीवास्तव ने स्वर में आग्रह भरकर कहा।

मुझे लगा, जैसे साँप डँस गया। काली साड़ी। मेरे बदन का रोम-रोम जैसे किसी आतंक से पीड़ित हो उठा। बड़ी देर तक मेरे कंठ से स्वर न फूट सका।

बड़ी कठिनाई से स्वयं को संयत करते हुए, मैंने कहा—"काली साड़ी।....मँगवायी है क्या?"

"हूँ," डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"आपको रंग पसंद आया।"

कैसे कहूँ, कि मुझे यह रंग अच्छा नहीं लगता? बड़ी मुश्किल से मैंने वह बंडल वापस करते हुए कहा—"अच्छा है।"

डॉक्टर श्रीवास्तव के मुख पर एक अपरिचित शांति, एक अपरि-

चित संतोष दीख पड़ा। जाने कैसा व्यक्ति है यह डॉक्टर ? फिर भी सुख हुआ।

यह पगध्वनि मेरी परिचित है। मैंने करवट बदल ली।

मोना ने व्याकुल स्वर में प्रश्न किया—"अब कैसी तबीयत है, डॉक्टर ?"

"हूँ।....बैठो," डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"कहाँ थीं तुम आज ?"

"चार बजे से ड्यूटी थी," मोना ने स्टूल खिसका कर बैठते हुए कहा—"आयी तो बगल के कमरे के एक पेशेंट में उलझी रह गई।"

तनिक देर बाद खामोशी को बेधते हुए मोना ने स्टूल खिसका कर उठते हुए कहा—"ज़रा देख आऊँ।"

"फिर आओगी ?" डॉक्टर के प्रश्न में विकल निमंत्रण था।

"हाँ," मोना ने कहा।

"अच्छा।" डाक्टर श्रीवास्तव के स्वर में संतोष था।

मोना चली गयी। गुलाब के फूल की गंध आती है।

रात का भोजन करके, मैंने तुरन्त सो जाने की चेष्टा की। मैं बाधक नहीं बनूँगा। मेरा एक छोटा-सा घर है। उस घर में एक छोटा-सा कमरा है। कमरे में एक खिड़की है। खिड़की पर नीले रंग का परदा है। परदे के निकट उसकी रचयिता खड़ी है। उसके हाथों में एक सद्यःप्रस्फुटित गुलाब का फूल है।

यह पगध्वनि मेरी परिचित है।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"बैठो।"

मोना ने स्टूल खिसका कर, बैठते हुए कहा—"आज बहुत बिज़ी रही।"

बड़ी देर तक खामोशी रही।

डॉक्टर मोना को चुपचाप देख रहा होगा, सोच रहा होगा।

मोना अपनी प्रीति-व्याकुल दृष्टि से डॉक्टर को सँजो रही होगी। गुलाब का फूल डॉक्टर की अँगुलियों में खिला होगा।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"तुम साड़ी पहना करो, नर्स।"

"पहनूँगी—एक दिन पहनूँगी," मोना ने तनिक हँसते हुए कहा।

"नहीं, सच, तुम साड़ी पहना करो," डॉक्टर श्रीवास्तव ने बड़े आग्रह के साथ कहा।

मेरा हृदय धड़क रहा है। मेरी नसों में जैसे कोई संजीवनी बह रही है। इतना आग्रह, इतनी व्याकुल प्रीति, इतनी विवशता मैं नहीं सह सकूँगा। लगता है कि मैं स्वप्नों से जुड़कर पागल हो जाऊँगा। भगवान्, मुझे गहरी नींद दे दो! मैं तुमसे फिर कभी कुछ नहीं माँगूँगा।

डॉक्टर श्रीवास्तव का काँपता हुआ धीमा स्वर सुन पड़ा—"नर्स, एक बात पूछूँ?"

"पूछिए न," मोना ने कहा।

"ऐसा तो नहीं होगा, कि कभी अगर मैं तुम्हें कोई चीज़ दूँ, तो उसे लेने से इनकार कर दोगी?"—डॉक्टर ने तनिक रुक कर कहा।

मोना ने कोई उत्तर नहीं दिया।

तनिक देर बाद डॉक्टर श्रीवास्तव का धीमा स्वर सुन पड़ा—"लो!"

"क्या है?" मोना ने किंचित् विस्मित स्वर में जिज्ञासा की।

काली साड़ी। मेरे शरीर में सहसा एक झुरझुरी-सी दौड़ गई। हे भगवान्, यह डॉक्टर न जाने कौन-सी फैंटेसी की रचना कर रहा है।

डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"पहनो।"

"यहाँ ?....नहीं," मोना ने कहा—"कल पहन कर आऊँगी—ज़रूर। मगर यह बेकार खर्च न किया कीजिए।"

"नहीं, पहनो। कल का क्या भरोसा ?" डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा—"मरने वाले की बात नहीं काटा करते।"

"मैं कहती हूँ न, यहाँ नहीं। लोग क्या कहेंगे ?" मोना ने रुँधे कंठ से कहा—"कल सुबह पहन कर आऊँगी—ज़रूर।"

"अच्छा," डॉक्टर श्रीवास्तव ने कहा।

मुझे बड़ी व्यथा हुई। इतना गिरा हुआ, टूटा हुआ स्वर मैंने पहले कभी नहीं सुना था।

बड़ी देर तक खामोशी छायी रही। मोना ने आहिस्ता से स्टूल खिसका कर उठते हुए कहा—"अच्छा, कल सुबह।"

"क्या वक्त हो रहा है ?" डॉक्टर ने भरे हुए स्वर में जिज्ञासा की।

"ग्यारह से कुछ ज्यादा," मोना ने कहा।

मोना चली गई।

मुझसे बड़ी देर तक सोया न गया। जाने एक कैसी आशंका रह-रह कर मुझे चौंका जाती।

कब सो गया, पता न चला। सपने में डर कर नींद टूट गई।

डॉक्टर श्रीवास्तव बुरी तरह खाँस रहे थे।

नहीं, जंगल नहीं है, खौफनाक दरिन्दे नहीं हैं। मैं घबरा कर उठ बैठा।

नर्स ने वार्ड के नौकर को पुकार कर कहा—"बड़े डॉक्टर को फ़ोन करो।"

मैं विस्मित, भयभीत, जड़वत् बैठा रहा। यह क्या हो रहा है, क्या होने जा रहा है ? हे भगवान् !

घंटे भर में बड़े डॉक्टर आ गए। आते ही मेरी ओर देखते हुए, उन्होंने नर्स से कहा—"इनको बरामदे में ले जाओ।"

मैं कुछ कहूँ, इसके पहले ही नर्स और वार्ड के नौकर ने मेरी चारपाई खींच कर बाहर बरामदे में निकाल दी।

नर्स आती, और चली जाती। डॉक्टर आते, और चले जाते।

सुबह हो चली।

मुझे अपना घर याद आता है। कमरे की खिड़की के नीले परदे की रचयिता याद आती है।

मैंने देखा—बड़े डॉक्टर नर्स के साथ आए, और धीमे स्वर में बातें करते हुए आगे बढ़ गए।

मैंने आशंकित होकर नर्स को पुकार कर पूछा—"क्या हुआ, नर्स ?"

नर्स ने बग़ैर मेरी ओर देखे हुए कहा—"कुछ नहीं।" और बड़े डॉक्टर के साथ आगे बढ़ गई।

मैं चुपचाप लेट गया। मेरी समझ में कुछ नहीं आ रहा है। शायद डॉक्टर श्रीवास्तव को नींद आ गई हो, या....नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता।...मैंने वचन दिया है—वह गुलाब का फूल मेरा है।

थक कर मैंने आँखें मूँद लीं। सुबह हो गई थी। मुझे आज अपना सारा पिछला जीवन याद आ रहा था।

एकाएक मैं चौंक कर उठ बैठा। यह किसकी चीख सुन पड़ी ? लगा, कि जैसे अंग-अंग सहसा सुन्न हो रहा हो।..."ए की करले बालाई, ए की कर ले ?"

मैंने खड़े होने की कोशिश की। मैं जानता हूँ, कि यह मोना है।

काली साड़ी में मोना का उन्मादक व्यक्तित्व विलाप कर रहा है। डॉक्टर श्रीवास्तव की सिकुड़ी, ठंठी, पथरायी अँगुलियों में गुलाब का मुरझाया फूल पड़ा है।

भय से मेरा शरीर काँप उठा। मुझसे खड़ा नहीं हुआ गया। मैं हार कर फिर चारपाई पर बैठ गया। नहीं, मुझसे डॉक्टर श्रीवास्तव की फैंटेसी का इतना यथार्थ दृश्य नहीं देखा जाएगा।

शारदा भाभी

गणपति की नींद टूटी तो सुबह हो चुकी थी। कल की तुलना में उसे अपने शरीर की अनुभूति अधिक सुखद लगी। कौन जानता था कि वह दिन भी आएगा जब वह अपने शरीर की सुखद अनुभूति कर सकेगा? सब उसकी बीमारी की दीर्घता से प्रायः निराश हो चुके थे। स्वयं उसे भी यह विश्वास नहीं रह गया था कि वह इस रोग से उबर जाएगा। और यहीं शारदा भाभी के प्रति उनका मन एक व्यापक एवं अकृत्रिम कृतज्ञता से भर आया। यहाँ एक वही थीं कि निराश नहीं हुई थी। हर नयी दवा की शीशी से वह इतने विश्वास से दवा ढालती थीं कि लगता था, दवा की यही ख़ुराक उसे मौत के पंजे से छुड़ा लेगी।

हल्के तनिक उठ कर गणपति ने तकिया सिरहाने पलँग की उठी हुई पाठी से लगा दिया और तनिक ऊपर की ओर खिंच कर उसके सहारे बैठ गया। बाकी लोग अभी सोये हुए थे। उसने चाहा कि वह बग़ल के कमरे में सोयी शारदा भाभी को पुकार कर बुला ले और उनसे कहे कि सुनिए, यहीं बैठी रहिए और अपनी करुणा से मुझे सींचती रहिए, किन्तु वह ऐसा न कर सका। उसे याद आया, आधी रात तक लाख मना करने पर भी भाभी उसके सिरहाने बैठी उसके बालों में अँगुलियाँ फेरती रही थीं कि किसी तरह उसे नींद आ जाए। उसने भाभी को पुकारने की इच्छा मन ही में रह जाने दी। न, वह इस भाभी को और कष्ट नहीं देगा। और भाभी को नींद से जगा कर उनकी करुणा से सिंचित होने के स्वार्थ से विपरीत हो कर गणपति पुनः तकिया सीधा कर लेट गया और आँखें बन्द कर लीं।

थोड़ी देर बाद नरम पतली अंगुलियों के सुपरिचित स्पर्श से चौंक

कर गणपति ने आँखें खोलीं तो शारदा भाभी सिरहाने खड़ी अनुभूतिगम्य मुसकान के साथ उससे पूछ रही थीं—"कैसी तबीयत है आपकी ?"

गणपति ने धीरे से उठ कर बैठते हुए कहा—"अब नहीं मरूँगा।"

"छिः !"—शारदा भाभी ने किंचित् रोष के स्वर में कहा—"यह सब नहीं सोचा-बोला करते, मैंने कहा न।" कह कर शारदा भाभी ने तकिया खींच कर पलँग की उठी हुई पाटी से लगा दिया और गणपति उनकी सहायता से शिशुवत् ऊपर की ओर तनिक खिंच कर बैठ गया। शारदा भाभी उसके मुँह-हाथ धोने की व्यवस्था करने अन्दर चली गयीं।

नित्य-कर्म से निवृत्त हो कर गणपति ने दवा पी, फिर थोड़ी देर बाद दूध पिया और बिस्तर पर लेट गया। आँखें मूँदे अपने जीवन के उस संक्रातिपूर्ण व्यतीत अंश की आकृति गढ़ते-गढ़ते, जिसे अब वह प्रायः भूल जाना चाहता था, जाने कब उसे नींद आ गयी। एकाएक सिर के बालों में फिरती अँगुलियों के स्पर्श से चौंक कर उसकी आँखें खुल गयीं। शारदा भाभी सिरहाने खड़ी थीं और उनकी अँगुलियाँ अब भी उसके सिर के बालों में उलझी थीं। गणपति ने देख कर फिर आँखें मूँदते हुए कहा—"आप ?"

"हाँ"—शारदा भाभी ने इस निरर्थक अभिव्यक्ति को सहज मुसकान से ग्रहण करते हुए कहा—"आपको सोने नहीं दूँगी।"

गणपति वैसे ही आँखें मूँदे पड़ा रहा। बोला—"न, सोने दीजिए। बड़ी नींद आती है।"

शारदा भाभी ने धीरे से उसके बालों को झटका देते हुए कहा—"ज़िद्द नहीं किया करते, हाँ ? बड़ी तपस्या के बाद यह बुखार उतरा है।"

गणपति को आँखें खोल देनी पड़ीं। वह धीरे से उठ बैठा और पलँग की उठी हुई पाटी से लग कर बैठ गया। किन्तु संभवतः,

लम्बी बीमारी झेलने के बाद तन-मन की प्रायः नवीन स्वस्थ अनुभूति के इस नये दिन में उत्साह और रिक्तता की सम्मिलित प्रतीति के कारण उसे अपने अस्तित्व का एक विचित्र स्वप्निल अनुभव हो रहा था और उसका जी कर रहा था कि वह यों ही चुपचाप सोया रहे। उसने बड़ी विवशता की दृष्टि से शारदा भाभी को एक बार देखा और मन ही मन उनसे सो जाने देने की विनती करते हुए लेट गया और आँखें बन्द कर लीं। शारदा भाभी ने यह देखा और किंचित् रोष के स्वर में बोलीं—"यह आप कैसी बच्चों-सी हरकत कर रहे हैं?"

गणपति ने आँखें नहीं खोलीं। वैसे ही ज़िद्द किए पड़ा रहा। आज शारदा भाभी के आज्ञावत् आग्रह को शिशुवत् अस्वीकार करना उसे बड़ा अच्छा लग रहा था। और शारदा भाभी कल तक आद्योपान्त समर्पित युवक की इन नयी शिशुवत् ज़िद्द से तनिक रूठी-सी, तनिक रुष्ट-सी खड़ी थीं और सोच रही थीं। तभी बग़ल के कमरे में जूते की आवाज़ सुन पड़ी और वह रोष-भरे स्वर में गणपति से कुछ कहने ही जा रही थीं कि मिहिर ने प्रवेश करते हुए जिज्ञासा की—"क्यों, क्या बात है?"

शारदा भाभी ने स्वर में अपनी आजिज़ी भर कर कहा—"देखो न, कहते-कहते थक गयी, मानते ही नहीं। अभी सोना कोई ज़रूरी है? फिर कहीं तबीयत ख़राब हो गयी तो?"

मिहिर ने तनिक पास आ कर गणपति को देखा और हँसते हुए कहा—"सोने दो। बच्चा है बेचारा। मैं इसे बचपन से जानता हूँ। यह हमेशा ऐसा ही रहा है—शिशुवत्।"

शारदा भाभी को हँसी आ गयी, खिलखिला कर हँसते हुए गणपति के बालों को फिर एक हल्का झटका दिया और बोलीं—"उठिए। ज्यादा ज़िद्द नहीं किया करते, हाँ? अच्छे बच्चे बड़ों का कहना मानते हैं।"

जाने इस बार भाभी के स्वर में क्या था कि गणपति ने आँखें खोल दीं और अधलेटा-सा हो कर बैठ गया। मिहिर ने मुसकराते हुए कहा—"चलो, बड़ा अच्छा किया तुमने। बेचारी शारदा की चिंता दूर हुई।"

गणपति ने हल्के मुसकराते हुए तनिक सिर ऊपर की ओर झुका कर शारदा भाभी को देखा, जो होंठों पर अगाध करुणा, अनंत स्नेह की हँसी बिखेरे बड़ी ममता से उसे देख रही थीं। वह देखता ही रह गया। जाने भाभी, यह शारदा भाभी, यह स्त्री-व्यक्तित्व की इतनी व्याप्ति कहाँ से ले आयी हैं?

शारदा भाभी ने उस दृष्टि की रुँधी अभिव्यक्ति को प्रायः चीन्हते हुए कहा—"क्या सोच रहे हैं आप?"

गणपति प्रश्न सुन कर गम्भीर हो आया। सिर को सीधा करते हुए उसने बड़े गम्भीर स्वर में कहा—"जाने कहाँ का मैं....जाने कहाँ की आप....मिहिर दा के माध्यम से हम मिले। शायद यह विधि का विधान ही था, नहीं तो ऐसा सौभाग्य कहाँ होता कि मैं बीमार पड़ता और आपकी अनवरत चिंता से मुझे रोग से मुक्ति मिलती! सोचता हूँ, पता नहीं, सच, इस जन्म में आप मेरी कौन हैं। यों तो आप मिहिर दा की पत्नी हैं और इस नाते मैं आपको भाभी कहता हूँ, किन्तु मुझे लगता है, रह-रह कर लगता है कि पिछले जन्म में आप अवश्य मेरी माँ रही होंगी।"

शारदा भाभी खिलखिला कर हँस पड़ीं। बोलीं—"यह मैं नहीं जानती कि पिछले जन्म में मैं आपकी माँ थी या नहीं, या कौन जाने यह मेरा पहला ही जन्म हो, किन्तु अगले जन्म में मैं अवश्य आपकी माँ होऊँगी।"

सहसा मिहिर चीख़ उठा—"अरे, ऐसा ग़ज़ब न करना शारदा, ऐसा ग़ज़ब न करना। यह जन्म तो मुझ जैसे अपात्र से ब्याह करके

तुमने गँवा ही दिया, अगला जन्म भी ऐसे नालायक़ आदमी की माँ बन कर क्यों खराब करना चाहती हो ?"

और तीनों की हँसी कमरे की दीवारों से टकरा कर गूँज उठी। सहसा हँसते-हँसते शारदा भाभी चुप हो गयीं और गणपति को संबोधन करते हुए बोलीं—"न, इतना न हँसिए। हरारत हो जाएगी। बस, बहुत हो चुका। अब आप आराम कीजिए।"

मिहिर भी जाने को उठ खड़ा हुआ। शारदा भाभी ने जाते हुए कहा—"देखिए, मगर सो न जाइएगा। बस, रसोई निबटा लूँ, फिर आ कर बातें करूँगी।"

मिहिर चला गया। शारदा भाभी चली गयीं। गणपति फिर लेट गया, किन्तु चाह कर भी शारदा भाभी की वत्सल-वर्जना के कारण उससे सोया नहीं गया। बस, पड़ा-पड़ा सोचता रहा। कहीं का, किसी का भी वह नहीं हुआ। यहाँ तक कि महज़ एक दिन बड़े होने के कारण मिहिर से साधिकार मिहिर दा हो जाने वाले मित्र का भी वह प्रायः नहीं-सा ही है, जिसने सदैव बड़े भाई के स्थान की पूर्ति करते हुए मात्र अपना अकृत्रिम उत्तरदायित्व निभाया है, किन्तु कभी उसकी ओर से किसी कर्तव्य की माँग नहीं की, बल्कि उस जैसे वीतराग निराश्रय व्यक्ति को ऐसे संकट के दिनों में आश्रय दे कर पुनरुज्जीवित किया। जिस पिता ने उसका सृजन किया, बड़ी उम्मीद से पाला-पोसा, जिस माँ के गर्भ में उसने आकृति ग्रहण की, जिसके संसर्ग में उसने अपने संस्कार रचे, उसका भी वह नहीं हुआ। हर दिशा से उसने पलायन ही किया है, हर सम्बन्ध से वह स्वयं को विच्छिन्न ही करता रहा है। किन्तु, जाने शारदा नाम से ख्यात, भाभी के विशेषणात्मक संबोधन से जुड़ी इस औरत में ऐसा कौन-सा चुम्बकीय तत्व है कि यहाँ पहुँच कर वह जुड़ता ही चला जाता है, विच्छिन्न नहीं हो पाता, पलायन नहीं कर सकता। उसका उद्धत अहम् अनायास ही यहाँ समर्पित हो जाता है और वह मात्र शिशु हो कर रह जाता है।

आज से छह-सात साल पहले जब वह एक बहुत छोटी-सी बात पर नाराज़ होकर मन-ही-मन घर के लोगों से नाता-रिश्ता तोड़ कर ग्वालियर चला गया था और वहीं एक व्यावसायिक कम्पनी के दफ़्तर में नौकरी कर ली थी, उन्हीं दिनों अचानक उसे मिहिर का एक छोटा-सा पत्र मिला था—ब्याह में आने का निमंत्रण। उसे आज भी उसकी वे पंक्तियाँ याद हैं! उसने लिखा था—"मेरा ब्याह हो रहा है। स्वयं मेरे लिए, एकांततः मेरे लिए यह कोई बहुत प्रसन्नता की बात नहीं है। फिर भी, मैं प्रस्तुत हूँ। तुम आओगे, तो शायद इस सम्पूर्ण निरर्थकता के बीच मुझे एक अर्थवती शांति मिलेगी।"

पत्र पढ़ कर उसे बड़ी हँसी आयी थी। यह मिहिर दा भी बड़ा पागल है—उससे किंचित् भी भिन्न नहीं। उसने पत्र का उत्तर नहीं दिया था, मिहिर की शादी में शरीक होने की तैयारी शुरू कर दी थी। किन्तु, तभी फिर एक दिन मिहिर का एक और पत्र पहुँचा था। लिखा था—"आना ज़रूर। चाचा जी भी आ रहे हैं।" चाचा यानी उसके पिता! नहीं, वह उनसे नहीं मिल सकता। और सारी तैयारी के बावजूद उसने अपना जाना स्थगित कर दिया था।

इसके बाद महीनों मिहिर का एक भी पत्र नहीं मिला था। वह तरह-तरह की बातें सोचा करता—क्या जाने, क्या है!

कोई सात-आठ महीने बाद एक दिन अचानक अपने नाम मिहिर का पत्र देख कर उसे थोड़ा विस्मय हुआ था। फिर वही पागलों-जैसी बातें! न, मिहिर दा आदि से अन्त तक रोमांटिक है। मिहिर ने लिखा था—"...ख़ैर, जैसी आशा थी, उसके विपरीत तुम नहीं गये। तुम्हें यक़ीन नहीं आएगा, लेकिन मैं जानता था, तुम नहीं आओगे। ऐसे, इसका दुःख मुझे रहेगा।...तुम आते, तो शारदा से मिल कर तुम्हें बड़ी प्रसन्नता होती। सोचता हूँ, ऐसी सुलक्षणा और मेरे योग्य? कैसी विडम्बना है!....शारदा पढ़ी-लिखी है, रूपवती है, संस्कृत है। तुम्हें भाभी के रूप में वह स्वीकार्य होगी। किन्तु, सच मानो, मुझ

निरर्थक के साथ शारदा जैसी सुलक्षणा का ब्याह करके हम दोनों के माता-पिता ने बड़ा अन्याय किया है।"

पत्र पढ़ कर वह विभ्रमित-सा रह गया था। जैसे यह पत्र उसकी अर्थ-चेतना से बहुत परे हो। और उसने मिहिर के इस पत्र का भी जवाब नहीं दिया था। किन्तु, यह पत्र बहुत दिनों तक उसके मन को मथता रहा था—यह सब मिहिर दा ने क्यों लिखा?

साल-पर-साल बीतते गये। इस बीच मिहिर के कितने पत्र उसे मिले। "...शारदा मायके गयी है";..."शारदा मायके से लौट आयी";..."यह मेरा सौभाग्य ही है कि जब मैं गृही हुआ, मुझे शारदा-जैसी गृहलक्ष्मी मिली";..."कभी-कभी बड़ा दुःख होता है—शारदा अपने पत्नीत्व से ही सन्तुष्ट है";...."यह भी कैसा विचित्र है कि शारदा के पत्नीत्व की सार्थकता के योग्य मैं नहीं हूँ, फिर भी मैं शारदा का पति हूँ;" ..."शारदा लेडी चैटरली है;"...."मैं रामकृष्ण परमहंस तो नहीं हूँ, मेरी स्थिति उनसे भिन्न है, किन्तु अपने प्रति शारदा की अगाध प्रीति, असीम भक्ति देखते हुए मुझे लगता है, रामकृष्ण को पत्नी के रूप में जो स्वयंतुष्ट दैवी शक्ति प्राप्त हो गयी थी, ठीक वैसी ही है यह शारदा—सामान्य मनुष्य के लिए प्रायः अकल्पनीय"; इत्यादि। मिहिर का प्रत्येक पत्र उसके लिए एक नयी अव्याख्येय समस्या लिये आता और वह और विभ्रमित हो जाता। हाँ, शारदा नाम से मिहिर के पत्रों में उल्लिखित स्त्री के प्रति उसके मन में जिज्ञासा प्रबल से प्रबलतर होती जाती और प्रत्येक दिन उस अकल्पनीया से मिलने की उसकी उत्सुकता बढ़ती जाती। कई बार उसने ऐसी योजना भी बनायी, मिहिर को अपने आने की बाबत लिख भी दिया, किन्तु प्रत्येक बार कुछ ऐसा हुआ कि उसका जाना न हो सका।

मन-ही-मन अनन्त काल की इतनी सीढ़ियाँ तय कर यहाँ पहुँच कर गणपति रुका। उसने अनुभव किया कि छत पर निगाह जमाए

सोचते-सोचते उसकी आँखों और उसके सिर में थोड़ी व्यथा होने लगी है। उसने आँखें मूँद लीं। जाने शारदा भाभी को रसोईघर से कब फ़ुरसत मिलेगी ?

और फिर वे दिन भी आये। वह बीमार पड़ा। हालत बिगड़ने पर पास-पड़ोस के लोगों ने उसे अस्पताल पहुँचा दिया और कमरे में बिखरे पत्रों से पता ले कर मिहिर को सूचना भेज दी। वह यहाँ आ गया। चार महीने की दीर्घ बीमारी और लम्बी यात्रा के बाद वह इतना थक गया था कि किसी से परिचित होने की सुध-बुध उसमें नहीं रह गयी थी ! अर्ध चेतनावस्था में ही संभवतः मिहिर ने शारदा भाभी से उसका परिचय कराया था। कौन जाने, तब नमस्कार को भी उसके हाथ उठे थे या नहीं ? फिर इस शारदा भाभी ने उसकी सेवा-सुश्रूषा का सारा उत्तरदायित्व अपने सिर ले लिया था। दवा की प्रत्येक नयी शीशी से वह इस विश्वास के साथ दवा ढालती थीं कि लगता था, दवा की वही खुराक उसे मौत के पंजे से छुड़ा लेगी। धीरे-धीरे शारदा भाभी का विश्वास उसके रोग को वश में करता चला गया और ज्यों-ज्यों उसकी तबीयत सुधरती गयी, शारदा भाभी के प्रति उसकी उत्सुकता में एक नयी संजीवनी भरती गयी। किन्तु कभी भी तो ऐसा नहीं लगा कि मिहिर के पत्रों की पति-पत्नी के सम्बन्धों की एक भी सांकेतिक अभिव्यक्ति सार्थक है। अपने तन-मन की इस रोगाक्रांत स्थिति में भी वह उनके सम्बन्धों के प्रति सदैव जिज्ञासापूर्वक उत्सुक एवं सजग रहा है। किन्तु, कभी भी तो ऐसा नहीं लगा कि इस पति-पत्नी के सम्बन्धों में कहीं कोई निरर्थकता भी है।

तब, मिहिर ने वह सब क्यों लिखा था ? न, सच, यह मिहिर दा आदि से अन्त तक रोमांटिक है ! और गणपति को अपने आप हँसी आ गयी। बड़ा पागल है यह मिहिर दा ! अच्छा, जरा वह ठीक हो जाए, इसी बात पर मिहिर से लड़ाई हो जाएगी। भला ऐसा भी कहीं हुआ है ?....ऐसी सुलक्षणा और मेरे योग्य ?...धत् पगला !

सहसा माथे पर शारदा भाभी के परिचित स्पर्श से चौंक कर गणपति उठ बैठा।

शारदा भाभी ने हल्के मुसकाते हुए कहा—"देर हो गयी, न? क्या करती? आपकी बीमारी ने इतना धंधा जमा कर रखा था कि उनके निबटते इतना पहर बीत गया।"

गणपति ने शारदा भाभी को एक नज़र देखा। उसकी बीमारी को लेकर कहीं उसके मन में कोई आजिजी तो नहीं है। संतुष्ट होकर बोला—"मैंने आपको बड़ा कष्ट दिया, न?"

"नहीं तो, कष्ट काहे का?"—शारदा भाभी ने उसके बेतुकेपन पर खिलखिला कर हँसते हुए कहा—"आपको भी दूर की सूझती है! वे ठीक ही कहते थे एक दिन, इतना कल्पनाशील युवक-शिशु असंभव ही है?"

गणपति भी खिलखिला कर हँस पड़ा। शारदा भाभी आ कर उसके बग़ल में बैठ गयीं। पूछा—"सोये तो नहीं न?"

विश्वास दिलाने के लिए उसने गम्भीर होते हुए कहा—"नहीं।"

"लूडो ले आऊँ?" शारदा भाभी ने उठते हुए सवाल किया।

गणपति ने विस्मित आँखों से शारदा भाभी को देखा—"लूडो?"

"हाँ, नींद आती भी होगी, तो नहीं आएगी।" शारदा भाभी ने कह कर गणपति के उत्तर की प्रतीक्षा नहीं की। अन्दर कमरे में चली गयीं। गणपति सोचता-देखता रह गया। यह शारदा भाभी उसे शिशु कहती हैं।

शारदा भाभी लौट कर आयीं और उसके सिरहाने लूडो फैला कर बैट गयीं। बोलीं—"आइए, एक बाज़ी हो जाए।"

गणपति मुसकराया। करवट बदलते हुए उसने कहा—"कितना विचित्र साम्य है आपकी और मिहिर दा की प्रकृति में! उसे भी जाने क्यों यह लूडो बहुत प्रिय है। दो चीज़ों की उसे बचपन से ही सनक-

सी रही है—लूडो की और ड्रेस की। ड्रेस के मामले में उसे कभी मैंने अस्त-व्यस्त नहीं देखा।"

शारदा भाभी ने पासा फेंकते हुए कहा—"लीजिए, एक छह।"

गणपति ने लक्ष्य किया, शारदा भाभी जान-बूझ कर यह अवान्तर-कथा टाल गयी थीं। उसने मुसकराते हुए कहा—"अपनी-अपनी क़िस्मत है। जाने क्यों मेरे फेंके बहुत देर तक छह आता ही नहीं। मैं तो अकसर मिहिर दा के साथ खेलते हुए बीच ही में छोड़ कर भाग जाता था।"

शारदा भाभी ने फिर पासा फेंकते हुए कहा—"मगर मैं मिहिर दा नहीं हूँ, भागने नहीं दूँगी।" गणपति ने देखा, फिर छह आ गया था और शारदा भाभी दोबारा पासा फेंकने की तैयारी कर रही थीं। कुछ ऐसा हुआ कि वश में करते-करते उसके मुँह से निकल गया—"जानता हूँ, आपके सम्पर्क से भागना संभव नहीं है।"

सहसा पासा फेंकते-फेंकते शारदा भाभी की अँगुलियाँ बेतरह काँप कर रुक गयीं और पल-भर को उनकी आँखें उससे लगी रह गयीं। वह ठगा-सा रह गया। सच, कौन हैं, ये शारदा भाभी? उसकी कौन हैं? ऐसी निश्छल कातरता, ऐसी व्यापक आँखें! इनकी भाषा पढ़ी नहीं जाती, अधिकांश असवेद्य ही रह जाता है। और उसे याद आया—

सहसा शारदा भाभी ने संयत हो आ कर इस अवाक् स्थिति को तोड़ते हुए जिज्ञासा की—"क्या सोच रहे हैं?"

"सोच रहा हूँ।...." इसके आगे गणपति से नहीं कहा गया।

तनिक रुक कर शारदा भाभी ने फिर जिज्ञासा की—"क्या सोच रहे हैं?"

"सोच रहा हूँ"—गणपति ने कहा—"घर से टूटे कितने दिन हो गये। मेरी छोटी बहन सयानी हो गयी होगी।"

तनिक रुक कर लूडो को बंद करते हुए शारदा भाभी ने फिर जिज्ञासा की—"चुप क्यों हो जाते हैं ? कहिए, न क्या सोच रहे हैं ?"

गणपति ने छत की ओर देखते हुए कहा—"देखो भाभी 'तुम' का बुरा न मानना। तुमसे जो निश्छल स्नेह मिला है मुझे, उसी के आधार पर सोचता हूँ इस जन्म में चाहे तुम मेरी जो भी बन कर आयी हो, किन्तु मुझे लगता है कि पिछले जन्म में तुम अवश्य मेरी बहन रही होगी।....तब बहुत छोटी थी वह ऐसी ही निश्छल कातरता, ऐसी ही व्यापक आँखें। न, पिछले जन्म में तुम अवश्य मेरी बहन रही होगी।"

शारदा भाभी खिलखिला कर हँस पड़ीं—"कौन जाने, किन्तु सच कहती हूँ, अगले जन्म में मैं अवश्य आपकी बहन बनूँगी।"

गणपति से उत्तर मे कुछ कहा नहीं गया। छोटी बहन सयानी हो कर उसकी आँखों में तिर आयी। उसने आँखें बंद कर लीं। उसका जी एकाएक भर आया।

शारदा भाभी कुछ देर तक चुपचाप उसके सिरहाने खड़ी रहीं, फिर अन्दर रसोई की ओर चली गयीं। तनिक देर बाद दवा की प्याली हाथ में लिये आ कर उन्होंने उसके सिर के बालों को एक हल्का झटका देते हुए कहा—"उठिए, इतनी चिंता अच्छी नहीं। दवा पी लीजिए।"

गणपति अब तक बहुत कुछ सहज हो आया था। उठ कर दवा की प्याली हाथ में ले कर उसने किंचित् मुसकराते हुए कहा—"लेकिन दवा अब अच्छी नहीं लगती।"

हल्के मुसकराते हुए शारदा भाभी ने कहा—"लेकिन अभी तो पीनी ही पड़ेगी।"

दवा पी कर गणपति फिर लेट गया। शारदा भाभी अपने कमरे में लौट गयीं।

दिन डूबे मिहिर के जूतों की आवाज़ बरामदे पर सुन पड़ी।

आ कर सामने पड़ी कुर्सी पर बैठते हुए उसने पूछा—"ज़्यादा तंग तो नहीं किया न तुमने शारदा को ?"

गणपति ने उठ कर बैठते हुए कहा—"चाहा था किन्तु कर न सका।"

"क्यों, पराजित होना पड़ा ?" मिहिर ने उसे गौर से देखते हुए सवाल किया।

"नहीं, उस वत्सलता के निकट समर्पित होना होता है, पराजित नहीं।" गणपति ने कहा और मिहिर के चेहरे पर अपनी दृष्टि डाली। मिहिर की आँखें खिड़की के पार फैले गहन नील विस्तार में जाने क्या ढूँढ़ रही थीं। शारदा भाभी ने प्रवेश करते हुए पूछा—"नाश्ता ले आऊँ ?"

"ले आओ।" मिहिर ने कहा और उठ कर उनके साथ ही अन्दर चला गया। पल भर में ही शारदा भाभी ने नाश्ते का सारा सामान लाकर टेबल पर रख दिया और दूध का गिलास उठा कर गणपति को देते हुए कहा—"आप पी लीजिए। उन्हें कुछ देर लगेगी।"

गणपति ने गिलास होठों से लगाया ही था कि मिहिर के जूतों की आवाज़ सुन पड़ी और उसने देखा, एक नये काले सूट में आ कर मिहिर नाश्ते की टेबल के समीप बैठ गया।

गणपति ने हँसते हुए कहा—"तुम्हारी यह ड्रेस एरिस्टोक्रेसी अभी तक नहीं गयी मिहिर दा, क्यों ? हमेशा वैसे ही टिप-टॉप—क्या सुबह, क्या शाम, क्या घर, क्या बाहर। पता नहीं, भाभी ने भी ड्रेस के मामले में कभी तुम्हें एकदम सहज-सरल या अस्तव्यस्त देखा है या नहीं ?"

शारदा भाभी खिलखिला कर हँस पड़ीं। बोलीं—"ना बाबा, मैंने तो कभी यह भी नहीं देखा कि इनके हाथों में भी रोएँ हैं या नहीं।"

शारदा भाभी का कथन समाप्त होते ही जाने क्या हुआ कि हँसते-हँसते मिहिर दा और शारदा भाभी की आँखें मिलीं और एकाएक मिहिर दा के चेहरे पर एक विचित्र व्यथा उमड़ आयी और शारदा भाभी के खुले रक्तिम होंठों की हँसी एकाएक सिकुड़ कर नीली पड़ गयी। गणपति ने अपनी इस दीर्घ बीमारी में भी कभी ऐसे निस्तब्ध क्षण का अनुभव नहीं किया था। वह निर्वाक्, अर्थ-भ्रमित दोनों को देखता रहा और इस अप्रत्याशित स्थिति को बूझने-जानने का प्रयास करता रहा।

जब बहुत देर तक किसी दिशा से कोई स्वर न आया, तो इस मौन को बेधते हुए गणपति ने प्रश्न किया—"मिहिर दा, मुझे यहाँ कोई नौकरी मिलेगी ?"

"क्यों ?" मिहिर ने अपने मन से उत्तीर्ण होते हुए कहा।

स्थिति के तनाव को सहज करने के ख़याल से गणपति ने हल्के मुसकराते हुए कहा—"अजीब सवाल किया तुमने ? अरे, क्यों क्या ? नौकरी करना चाहता हूँ, इसीलिए।"

अब तक मिहिर अपनी स्वाभाविक स्थिति को लौट चुका था और शारदा भाभी के होंठों पर भी मुसकान की तरलता उतर आयी थी।

मिहिर ने मुसकराते हुए कहा—"माना, शेर इसको कहते हैं। कल तक शारदा के सहारे बिस्तर पर पड़े थे बुखार में बुत्त और आज उठ कर बैठे नहीं कि पहला ख़याल नौकरी का आया। ठीक है, कल तुम्हें बड़े अस्पताल में ले चलेंगे।"

"अस्पताल ?" गणपति ने भकुआये स्वर में सवाल किया।

"हाँ-हाँ, अस्पताल।" मिहिर ने गंभीर होते हुए कहा—"इतने तेज़ और लम्बे बुखार का दिमाग़ पर असर पड़ना ताज्जुब की बात नहीं।"

शारदा भाभी पूर्ववत् खिलखिला कर हँस पड़ीं। बोलीं—"ठीक

है। पहुँचा दो इन्हें अस्पताल। दिमाग़ भी ठीक हो जाएगा और मुझे चैन भी मिलेगा।"

गणपति शारदा भाभी की उस मुक्त हँसी को तोलता ही रह गया। कितनी रहस्यात्मक है यह हँसी!

मिहिर ने उठते हुए कहा—"अच्छा, दफ़्तर की कुछ फ़ाइलों से निबट लूँ, फिर आ कर बातें करूँगा।" और अन्दर चला गया। शारद भाभी भी उसके साथ-ही-साथ चली गयीं। गणपति फिर लेट गया। बड़ा रहस्य है इस मिहिर दा में; और शारदा भाभी—नहीं, वे अबूझ हैं और सच, अकल्पनीय हैं। इतनी मुक्त रक्तिम हँसी और सहसा इतनी नील स्तब्धता! अपरम्पार हैं शारदा भाभी!

गणपति ने सोने की कोशिश की। आँखें मूँदे पड़ा रहा, मगर उसे नींद नहीं आयी। बस, चुपचाप छत पर आँखें टिकाए गत-आगत-अनागत को सोचता रहा।

मिहिर ने कमरे में प्रवेश करते हुए पूछा—"नींद नहीं आ रही है क्या?"

"नहीं, तन-मन में एक विचित्र रिक्तता का अनुभव हो रहा है।" गणपति ने ख़यालों से टूटते हुए कहा और उठने की कोशिश की।

"न, लेटे ही रहो।"—मिहिर ने कहा—"हरारत हो जाएगी।"

कह कर मिहिर उसकी बग़ल में बैठ गया। पल भर चुपचाप उसे देखते रहने के बाद बोला—"रिक्तता का अनुभव तो होगा ही—एक तो पलातक, दूसरे यह भीषण दीर्घ रोग।"

गणपति मुसकराया। वह कहने ही जा रहा था कि नहीं, वह पलातक नहीं है, मात्र अन्वेषी है—विशुद्ध सुख का, अबाध अहम् का, किन्तु तभी शारदा भाभी ने आ कर उसके सिर के बालों को एक हल्का-सा झटका देते हुए कहा—"उठिए, दवा पी लीजिए।"

गणपति ने उठ कर दवा की प्याली ले ली। मिहिर ने कहा—

"देखो न, कैसा सूख गया है! चेहरा ऐसा लगता है गोया चों-चों का मुरब्बा।"

गणपति ने दवा पी कर प्याली लौटाते हुए कहा—"भाभी, ज़रा आइना तो देना।"

"अच्छा"—कह कर शारदा भाभी अन्दर चली गयीं। गणपति तनिक ऊपर की ओर खिंच कर पलँग की पाटी से लग कर बैठ गया।

तुरन्त ही शारदा भाभी आइना ले कर लौट आयीं।

गणपति ने अपना मुख देखते हुए मुसकरा कर अजीब-सी अदा मे कहा—"देखती हो न भाभी, इसकी कैसी दुर्दशा हो गयी है। चंद ही रोज़ पहले इसकी रौनक देखते ही औरतें ग़श खा जाती थीं।" शारदा भाभी की खिलखिलाहट कमरे में गूँज गयी। बोलीं—"मगर यकीन कीजिए, ऐसी कोई दुर्घटना मेरे साथ नहीं हुई।"

"एक ज़माना था, भाभी।" गणपति ने भी तनिक सस्वर हँसते हुए कहा—"गुज़रा हुआ ज़माना। अब किसी को क्या होगा? ये पिचके गाल, ये निकली हड्डियाँ, यह बढ़ी हुई दाढ़ी और ये बिखरे बाल! अभी भी ज़रा ये बाल सँवार दूँ, तो बस।"

"ऐसा गज़ब न करना।" मिहिर ने ज़ोर का ठहाका लगाया—"मैं ज़रा जल्दी बेहोश हो जाता हूँ।"

शारदा भाभी सिरहाने खड़ी थीं। हँसी में योग देते हुए बोलीं—"लाइए, मैं सँवार दूँ आपके बाल, मैं ज़रा मजबूत दिल की हूँ।" और इसके पहले कि गणपति कुछ कहे उनकी नरम पतली अँगुलियाँ उसके बालों में आ गयी थीं।

मिहिर ने घर लौट जाने का उपदेश छेड़ दिया। गणपति वैसे ही चुपचाप पलँग की पाटी से लगा सुनता रहा। उसे अपने सूखे-रूखे-उलझे बालों में फिरती शारदा भाभी की गरम अँगुलियों का तुनुक स्पर्श बड़ा अच्छा लग रहा था।

सहसा एक विचित्र कातर अनुभूति से भर कर मिहिर की बातों की

कड़ी को बीच में तोड़ते हुए गणपति ने कहा—"एक बात कहूँ भाभी ? बुरा न मानना। जिस मनोयोग से तुम मेरे रूखे-बिखरे बालों को सवार रही हो, जिस वत्सल प्रीति से भर कर तुम मुझे संजीवनी दे रही हो और अनजाने ही मुझे किसी अज्ञात दिशा में प्रेरित कर रही हो, उससे मेरे मन में अनेक आकार बन रहे हैं। और मुझे लगता है, हो-न-हो, पिछले जन्म में तुम अवश्य मेरी पत्नी रही होगी।"

मिहिर ने ज़ोर का ठहाका लगाया। शारदा भाभी खिलखिला कर हँस पड़ीं। बोलीं—"यह तो नहीं जानती कि पिछले जन्म में मैं आपकी पत्नी थी या नहीं, किन्तु अगले जन्म में..."

सहसा वाक्य को अधूरा ही छोड़ कर शारदा भाभी चुप हो गयीं। गणपति ने टोका—"हाँ, हाँ, कहो, क्या होगा अगले जन्म में ?"

शारदा भाभी ने कोई उत्तर नहीं दिया। गणपति ने अनुभव किया, उनकी अँगुलियाँ धीरे-धीरे उसके बालों से बिलग हो रही थीं।

गणपति ने कुछ न समझ कर सामने मिहिर पर दृष्टि डाली। वह गम्भीर, भरा-भरा-सा ऊपर छत पर आँखें टिकाये बैठा था।

गणपति झटके से उठ बैठा। कितने रहस्यात्मक हैं ये ! उसने मुड़ कर शारदा भाभी पर दृष्टि डाली ! एक गहरी नील स्तब्धता ! शारदा भाभी ने मुँह दूसरी ओर फेर लिया और मुड़ कर अन्दर की की ओर चल पड़ीं।

गणपति ने आश्चर्य में डूबते हुए अन्दर की ओर डग-डग बढ़ती शारदा भाभी को टोकते हुए कहा—"यह क्या है भाभी ? तुमने तो बताया ही नहीं कि अगले जन्म में..."

शारदा भाभी रुक गयीं। मुड़ कर एक बार मिहिर को देखा। वही नील स्तब्धता ! मिहिर की दृष्टि अब भी छत पर टिकी थी। पल-भर वे चुपचाप वैसे ही खड़ी रहीं। फिर, मुड़ कर अन्दर जाते हुए कहा—"सोचूँगी।"

●

मिथ्या की प्रतीक्षा

काकी आँगन में चौकी पर लेटी धूप से रही थीं और उनके बादलों जैसे सफेद मटमैले बड़े-बड़े बाल सिरहाने फैले हुए थे। शायद कुछ देर पहले वे रामायण पढ़ रही थीं और पढ़ते-पढ़ते जाड़े की उस मन-भवानी धूप में उन्हें नींद आ गई थी। रामायण उनके वक्ष पर खुली औंधी पड़ी थी और उनके दोनों हाथ नींद में भी मजबूती से उसकी जिल्द को थामे थे।

एक बार जी में हुआ कि काकी को पुकारूँ और जगा दूँ, लेकिन उनके मुख पर कुछ ऐसी विमोहन निश्चिंतता, कुछ ऐसी स्वप्नमयता थी कि मुझसे पुकारते न बन पड़ा। सामान अब भी बाहर रिक्शे पर पड़ा था। मैं दबे पाँव बाहर निकल आया।

दुपहरी ढलने लगी थी। बाहर बरामदे में अकेले बैठा मैं काकी के जगने का इंतजार करता रहा। लम्बी यात्रा के कारण अब थोड़ी थकान मालूम होने लगी थी और मैं थोड़ा आराम करना चाहता था, फिर भी चाहकर भी काकी को पुकारकर जगा देने का साहस नहीं हो रहा था।

थोड़ी देर और इंतजार करने के बाद मुझसे इस तरह यों अकेले और बैठा न रहा गया। मैं उठा और बरामदे की सीढ़ियों की ओर बढ़ चला। लेकिन सीढ़ियों के पास पहुँचा ही था कि यकायक आँगन से काकी के रामायण-पाठ का स्वर मेरे कानों में पड़ा और मैं रुक गया। बरसों बाद काकी का यह मधुर भावविभोर स्वर सुनकर मन को जाने कैसा एक सुख हुआ। काकी गिरिजा-पूजन-प्रसंग की चिरपरिचित आशीर्वादात्मक पंक्तियाँ गा रही थीं। मेरे पाँव आप-ही-आप आँगन की ओर लौट पड़े।

मैंने पास पहुँचकर आवाज दी—'काकी' !

काकी वैसे ही आँखें मूँदे पड़ीं रामायण की पंक्तियाँ गा रही थीं। मेरी आवाज सुनकर वे एकदम हड़बड़ाकर उठ बैठीं और क्षण भर मुझे फटी-फटी आँखों से देखती रह गईं, जैसे उन्हें इसका विश्वास न हो रहा हो कि यह मैं ही हूँ, जो उनके सामने खड़ा हूँ। मैंने झुककर उनके पाँव छूते हुए कहा—'देखो काकी, मैं आ गया न ?'

अब काकी की रुकी हुई प्रसन्नता विस्मय का बाँध तोड़कर बह निकली। होठों पर सँभाले न सँभलने वाली मुस्कान और आँखों से रोके न रुकने वाले प्रसन्नता के आँसू मैंने पहले भी देखे हैं, लेकिन ये तो अभूतपूर्व थे। काकी ने मुझे बाँह पकड़कर अपने पास खींचते हुए गद्गद् स्वर में पूछा—'कब आया रे ?'

'आ ही रहा हूँ।'—मैंने कहा और काकी के पास बैठ गया। तरह-तरह की जिज्ञासाएँ मन में उभर रही थीं, लेकिन पूछते न बन पड़ा। चुपचाप बैठा काकी को देखता रहा। तनिक देर बाद मैंने जिज्ञासा की—'कैसी हो काकी ?'

काकी ने मेरी ओर देखा और बड़े हल्के मुस्कराईं। बोलीं—'कैसी हूँ ? अच्छी ही हूँ रे। मेरा क्या ? न आगे नाथ, न पीछे पगहा। जी रही हूँ।' और अपनी बात समाप्त करते-न-करते वे खिलखिला कर हँस पड़ीं। मैं ठगा-सा उन्हें देखता रहा। चार वर्षों के बाद काकी से मिलना संभव हो सका था। तरह-तरह की जिज्ञासाएँ मन में उभर रही थीं। मगर आगे कुछ पूछते न बन पड़ा। बस, चुपचाप बैठा काकी को देखता रहा और उन दिनों को याद करता रहा, जब अचानक ही मैं काकी के सम्पर्क में आ गया था।

बी० एस-सी० की परीक्षा पास करने के बाद आगे की पढ़ाई के लिए मैं पटने आया था और रहने के लिए जगह की तलाश में दर-दर भटकता फिर रहा था। तभी इनसे मुलाकात हुई थी और इन्होंने बिना कोई पूछताछ किए बड़े प्यार से मुझे अपने इस मकान में रख

लिया था। थोड़े ही दिनों में जितनी प्रीति, जितनी ममता और जितनी निश्छलता का अनुभव मुझे इस घर में हुआ, कहीं नहीं हुआ था। इसी ममता के वशीभूत होकर मैं इन्हें काकी कहने लगा।

मेरी आँखों में इस घर में बिताये गये आज से चार साल पहले के उन दो वर्षों के अनेक दृश्य बड़े वेग से उभरते चले आ रहे थे कि सहसा काकी ने टोक कर मेरी तल्लीनता भंग कर दी। बोलीं—'यों ही बैठा रहेगा क्या रे?'

मैंने विगत स्मृतियों से सप्रयास स्वयं को विच्छिन्न करते हुए काकी को देखा। वे मेरे सामने खड़ी थीं और उनके बादलों-जैसे सफ़ेद, मटमैले बड़े-बड़े बाल घुटनों तक झूल रहे थे। काकी इस बुढ़ापे में भी सुन्दर कही जाएँगी और मैं जब कभी काकी के इन बड़े-बड़े बालों को देखता हूँ, मेरे मन में जाने कैसी पीड़ा भर जाती है। मैंने उठते हुए कहा—'थोड़ा पानी दे दो काकी, गुसल कर लूँ, बस।'

काकी रसोईघर से लगे गुसलखाने की ओर बढ़ गईं और मैं सामान उठा लाने के लिए बाहर के बरामदे की ओर चल पड़ा। सामान लेकर लौटा तो काकी गुसलखाने का दरवाज़ा पकड़े खड़ी थीं। मुझे देखते ही बोलीं—'यहीं आ जा—गुसलखाने में, पानी भरा रखा है।' और फिर शायद मेरी कठिनाई भाँपकर मेरे पास आती हुई बोलीं—'मैं रोज़ खुद अपने हाथों तेरा वह कमरा झाड़-बुहार देती हूँ। मैं जानती थी, तू मुझे भूलेगा नहीं।'

काकी रुकीं नहीं, आगे बढ़ गईं। मैं भी सामान लिये काकी के पीछे चल पड़ा। उन्होंने कमरे का दरवाज़ा खोलते हुए कहा—'देख ले अपना कमरा। जैसे रखता था, वैसे ही मैंने भी इसे रखा है।'

मैंने सामान कमरे में रख दिया। देखा, हर चीज अपनी जगह पर थी। लगा, मैं इस कमरे से कभी बाहर गया ही नहीं।

मैंने चारपाई पर होल्डऑल को खोलते हुए काकी की ओर देखा। वे चुपचाप खड़ी मुग्ध आँखों से मुझे देख रही थीं। मैंने

कहा—'तुम बैठो काकी, मेरे लिए परेशान होने को ज़रूरत नहीं। मैं नया थोड़े ही हूँ?'

काकी ने कुछ कहा नहीं। मुझे वैसे ही देखते हुए चुपचाप बैठ गईं। होल्डऑल से कपड़े वगैरह निकालकर मैं गुसलखाने खाने चला गया। लौटा तो उन्होंने चारपाई पर मेरा बिस्तर लगा दिया था और पेटी के सारे सामान निकालकर उचित स्थान पर रख दिये थे। मुझे देखते ही बोलीं—'तू बैठ, मैं तेरे लिए कुछ खाने को ले आऊँ।' और इससे पहले कि मैं कुछ कहूँ, चली गईं। मैं कमरे में चुपचाप बैठा सोचता रहा। क्यों ऐसा हुआ कि काकी के व्यक्तित्व के इस ममत्व, इस प्रभुत्व का विधाता ने गलत निर्णय किया।

नाश्ता वग़ैरह करने ने बाद मैं बिस्तर पर लेट गया। काकी थोड़ी देर तक मेरे बगल में बैठी इन चार वर्षों के मेरे विदेश-प्रवास की कथा पूछती रहीं, फिर उठकर रसोई की व्यवस्था करने चली गईं। बहुत थके होने के कारण मुझे नींद आ गई। जब टूटी, कमरे में घना अँधेरा फैला था। थोड़ी देर बाद काकी ने प्रवेश किया और हल्के डाँटने के स्वर में बोलीं—'तेरा यह काहिलपन नहीं गया, न? अँधेरे में पड़ा है, यह नहीं कि उठकर रोशनी जला ले।'

मुझे वर्षों बाद काकी की यह डाँट बहुत अच्छी लगी। मैं वैसे ही लेटा रहा। काकी ने बिजली का बल्ब जलाते हुए पूछा—'खाना ले आऊँ?'

मैं उठकर बैठ गया। शरारत के-से स्वर में कहा—'क्या बनाया है भला? मेरे मन का होगा तो खाऊँगा।' काकी खिलखिलाकर हँस पड़ीं। मेरे निकट बैठते हुए बोलीं—'तू तो वही है रे, बिल्कुल वही और मैं अक्सर सोचा करती थी कि तू लौट कर आएगा तो वही नहीं आएगा। नहीं रे, तू तो बदला नहीं, वही रह गया।'

मैंने ध्यान से उनकी ओर देखा और चारपाई से उतर पड़ा। वे

वैसे ही बैठी रहीं। बोलीं—'तू कहाँ जाएगा रे? मैं यहीं ले आती हूँ।'

'नहीं, काकी।' मैंने बच्चों की तरह ठुनकते हुए कहा—'मैं तो आज भी रसोईघर में ही खाऊँगा। इतने दिनों के बाद तो यह अवसर आया है आज।'

काकी हल्के मुस्कराईं। उठ खड़ी हुईं। बहुत दिनों बाद काकी के हाथ की बनी अपने मन की चीजें खाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। काकी का भी उत्साह सँभाले न सँभलता था। खा-पीकर मैं फिर अपने कमरे में वापस आ गया।

कोई डेढ़-दो घंटे बाद काकी आयीं और मुझे लेटा हुआ पाकर सवाल किया—'बहुत थका है क्या रे?'

'नहीं तो!' मैंने उठकर बैठते हुए कहा—'योंही लेटा था; बैठो न।' काकी मेरे पास ही बैठ गईं। क्षण भर जाने क्या सोचती रहीं, फिर बड़े धीमे स्वर में पूछा—'अभी तो रहेगा न?'

'नहीं काकी, कल रात की गाड़ी से चला जाऊँगा।' मैंने कहा—'जर्मनी से लौटकर बम्बई से सीधे यहीं आ गया हूँ। घर पर भी लोग इंतज़ार करते होंगे।' कहकर मैंने काकी की ओर देखा और जाने क्या बहुत गहरे मुझमें चुभ गया। काकी का लम्बा, गोरा प्रसन्न, मुस्कराता हुआ चेहरा एक गहरी निस्तब्ध उदासी में डूब गया था। मुझसे आगे और कुछ कहा न गया। मैंने अपने मुख पर काकी की उस उदासी के असर को छिपाने के लिए नजर दूसरी ओर घुमा ली। बड़ी देर तक काकी वैसे ही खामोश बैठी रहीं, फिर उठीं और बिना कुछ बोले चली गईं। मैं रोक भी न सका। उनकी बातें सोचते-सोचते लेट गया। कब नींद आ गई, पता नहीं। सुबह शायद रसोईघर से ही काकी ने मुझे पुकारा। मैं उठा और तौलिए से मुँह पोंछते हुए आगन में जा खड़ा हुआ। काकी को पुकार कहा—'चाय दो न, काकी!'

'लायी रे।'—काकी ने रसोई से उत्तर दिया और प्याले में चाय

लिए बाहर आ गई। बोली—'बस झटपट तैयार हो जा, नाश्ता भी तैयार है।'

मैंने चाय का प्याला लेते हुए काकी की ओर देखा। वे पूर्ववत् प्रसन्न दिखीं। रात की उस निस्तब्ध गहरी उदासी की कहीं कोई छाया भी नहीं दीख पड़ी। मैंने चाय की चुस्की लेते हुए प्रसन्न स्वर में कहा—'क्यों इस बुढ़ापे में इतना काम करती हो, काकी? यह इतनी सम्पत्ति किस दिन काम आएगी? कोई नौकर-वौकर क्यों नहीं रख लेती?'

क्षण भर काकी चुप रहीं। मुझे देखती रहीं। फिर रसोईघर की ओर लौटते हुए बोलीं—'क्या होगा इस शरीर की सोचकर? बचा कर रखूँ तो कौन सँभालेगा इसे?'

चाय का घूँट कंठ में अटकता हुआ-सा मालूम हुआ क्या कह रही हैं काकी? मन को बड़ी पीड़ा हुई। मुझसे आँगन में खड़ा न रहा गया। मैं अपने कमरे में लौट आया। कितना निष्ठुर है विधाता! क्या नहीं था या क्या नहीं है काकी के पास—रूप, गुण, शील, प्रीति, ममता? हर चरण पर विधाता ने उनके साथ अन्याय किया। मुझे याद आया, एक दिन बहुत पूछने पर काकी ने मुझे बताया था। विवाह के दूसरे ही दिन उनके पति ने उन्हें त्याग दिया था। मायके वालों ने लड़-झगड़कर किसी तरह गुजारे के लिए इतनी सम्पत्ति उनके पति से हासिल की थी, मगर काकी ने परित्यक्ता होकर मायके में रहना कबूल न किया और वे पति से हासिल किए गए इस मकान में अकेले आकर रहने लगीं।

यकायक आँगन से काकी ने जोर से पुकारा—'क्या कर रहा है रे? नहाएगा नहीं?'

मैंने हड़बड़ा कर उठते हुए तौलिया और कपड़े कंधे पर डाले और गुसलखाने जाने के लिए आँगन में निकल आया। काकी रसोईघर की चौखट पर बैठी तरकारी काट रही थीं। बोलीं—'क्यों रे, विदेश

घूमकर चला आया, लेकिन अब भी बिना टोके, बिना कहे अपना काम करने की आदत नहीं पड़ी ?'

मुझे बड़ा अच्छा लगा। मैंने जोर से ठहाका लगाते हुए कहा—'मुझे दोष न दो काकी, जरूरत से ज्यादा खयाल करके तुमने ही मेरी आदतें खराब कर दीं।'

काकी भी हँस पड़ीं। मेरी ओर देखते हुए बोलीं—'क्यों दोष देता है मुझे रे ? मैं क्या जनम से तेरे साथ लगी थी ?'

मैंने वहीं काकी के पास जमीन पर पलथी मार कर बैठते हुए कहा—'मगर मैंने तो हमेशा यही अनुभव किया है, काकी।'

काकी मुझे जमीन पर उस तरह बैठने पर डाँटने को ही थीं कि मेरा उत्तर सुनकर मुझे अजीब-सी आँखों से देखती रह गईं। मैंने देखा, आहिस्ता-आहिस्ता उनकी आँखें भर आयीं। उन्हें छिपाने के लिए वे झटके से उठीं और अंदर रसोईघर में चली गईं। मैं पल भर वहीं जड़वत् बैठा रहा, फिर उठा और गुसलखाने में चला गया।

दोपहर का खाना खाकर अपने कमरे में बैठा ही था कि काकी आ गईं। बिस्तर पर मेरे पास ही बैठते हुए उन्होंने बड़े ही उदास स्वर में पूछा—'आज चला ही जाएगा रे ! रुकेगा नहीं ?'

उस स्वर में कुछ ऐसी कातरता थी कि मुझसे उनकी ओर देखा न गया। मैंने दूसरी ओर देखते हुए दबे स्वर में कहा—'तुम यकीन करो काकी, मैं फिर जल्द ही आऊँगा।'

काकी क्षण-भर चुप रहीं, फिर भर्राए स्वर में बोलीं—'क्या भरोसा है तेरा ? इतने दिनों बाद तो आया है !'

वे पल भर खिड़की के पार जाने क्या देखती रहीं, फिर उठ कर चली गईं। भीतर-ही-भीतर एक अव्याख्येय उदास का अनुभव करता हुआ मैं बिस्तर पर लेट गया। मुझे जाने कैसा लग रहा था। पड़े-पड़े कब जाने नींद आ गई। जब काकी ने चाय लाकर रखते हुए मुझे पुकारा, कमरे में अँधेरा भरने लगा था। मैंने उठकर चाय पी, कुछ देर

तक रसोईघर में काकी के पास खामोश बैठा रहा, फिर कपड़े पहन कर मन के बोझ को हल्का करने के लिए घूमने निकल पड़ा। लौटा तो जाने का वक्त क़रीब-क़रीब हो चुका था। खाना खाया। बड़े प्यार से काकी ने खिलाया। कमरे में लौट आकर सामान को होल्डऑल में बंद किया और काकी की अनुपस्थिति में घबराकर उन्हें ढूँढता हुआ फिर सहसा रसोईघर में पहुँचकर मैं अवाक् रह गया। काकी चूल्हे के समीप बैठी घुटनों-बाँहों में मुख छिपाए फफक-फफक कर रो रही थीं।

मैंने हल्के उन्हें स्पर्श करते हुए भरे स्वर में पुकारा—'काकी!'

कोई उत्तर न मिला। मैंने तनिक रुककर यथाशक्ति स्वर की भर्राहट को वश में करते हुए कहा—'जाते समय मुझे विदा नहीं करोगी काकी, यों ही मुझसे रूठी रसोईघर में बैठी रहोगी?'

काकी ने फिर कोई उत्तर नहीं दिया, किंतु भीतर-ही-भीतर गूँजती उनकी सिसकियाँ फूट पड़ीं। मुझसे वहाँ और खड़ा न रहा गया। मैं धीमे पाँव लौट आकर अपने कमरे में बैठ गया। वक्त गुजरता जा रहा था और ट्रेन छूटने में केवल बीस-पच्चीस मिनट शेष रह गये थे। मन-ही-मन यह तय करते हुए कि अब आज जाना संभव न हो सकेगा, मैं होल्डऑल खोलने ही जा रहा था कि सहसा काकी ने कमरे में प्रवेश करते हुए अपने चिरपरिचित प्रसन्न स्वर में कहा—'रिक्शा दरवाजे पर खड़ा है और तू अभी तक होल्डऑल को बाँधने-खोलने में ही लगा है? भगवान जाने, तेरी ये आदतें कब छूटेंगीं!'

मैं ठगा-सा रह गया। यह कैसी विचित्र रचना है काकी! पल भर पूर्व के वे आँसू कहाँ चले गये? मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा। चुपचाप उन्हें विस्मित आँखों से देखते हुए मैंने होल्डऑल हाथों में उठा लिया और निगाहें झुकाये कमरे से बाहर निकल आया। बरामदे में आकर मैंने होल्डऑल रिक्शे वाले को दे दिया और काकी के पाँव

की ओर झुकते हुए कहा—'मैं जल्द ही आऊँगा काकी, जरूर आऊँगा।'

काकी ने मुझे उठाकर बाँहों में भर लिया। सिर के बालों का चुंबन करते हुए काँपते स्वर में बोलीं—'जानती हूँ, जानती हूँ। इसी आशा पर तो इतनी उम्र काट दी मैंने।'

मैंने झुककर फिर एक बार काकी के पाँव छुए और बिना कुछ कहे चुपचाप रिक्शे पर आकर बैठ गया। काकी का अंतिम वाक्य मुझे डसता हुआ-सा मालूम हुआ। कितनी विचित्र आशा है यह, कितनी विचित्र है यह प्रतीक्षा! जो मूलतः मिथ्या है; उसकी आशा, उसकी प्रतीक्षा। विधाता को सत्य का ज्ञान नहीं है क्या!

बरसात की एक रात

जब मैंने मिसेज उषा जायसवाल के ड्राइंग-रूप में प्रवेश किया, करीब-करीब शाम हो चली थी और आसमान में छाए हुए बादलों की वजह से समय के पहले ही हल्का अँधेरा हो चला था। ड्राइंग-रूम में मेरे प्रवेश करते ही मिसेज उषा जायसवाल ने उठकर मेरा स्वागत किया और आगे बढ़कर बिजली का स्विच दबा दिया। सौ वाट के हल्के नीले बल्ब की सुहानी मगर तेज रोशनी में ड्राइंग-रूम की नीली सजावट सहसा मेरी आँखों में कौंध गयी। मैंने वातावरण की उस नीलिमा से प्रभावित होकर मिसेज उषा जायसवाल की ओर देखा, जो लौटकर मेरे सामने खड़ी थीं और मुझे अजीब-सी ढीठ आँखों से देख रही थीं। घबराकर मैं उनकी ओर से अपनी नजर फेरने ही वाला था, कि उन्होंने सोफे पर बैठते हुए मुझे भी बैठने का इशारा किया और हल्के मुस्कराते हुए सवाल किया—"सफर मे आपको ज्यादा तकलीफ तो नहीं हुई ?"

"नहीं।"—मैंने बैठते हुए कहा—"तकलीफ का सवाल ही पैदा नहीं होता। मुझे इसकी आदत है।" कहकर मैंने फिर उनकी ओर देखा। उनकी ढीठ आँखें अब भी मुझ पर वैसे ही टिकी थीं!

"तो, आपको मेरी सारी शर्तें मंजूर हैं, न ?" तनिक बिलमकर मिसेज उषा जायसवाल ने सवाल किया। "जी।" मैंने कहा और बात यहीं खत्म हो गयी।

थोड़ी देर बाद वे उठकर अन्दर चली गयीं और एक नौकर ने आकर मुझे सूचना दी, कि मेरा सामान एक कमरे में लगा दिया गया है और मुझे जल्द मुँह-हाथ धोकर तैयार हो जाना चाहिए, क्योंकि चाय का वक्त बीता जा रहा था।

मुझे तैयार होने मे ज्यादा देर नहीं लगी। तुरन्त ही मैं फिर ड्राइंग-रूम में लौट आया। मिसेज़ उषा जायसवाल ने ड्राइंग-रूम में मेरे प्रवेश करते ही चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—"देखिए मि० वर्मा, मैंने सारा सामान मँगवा लिया है और मैं चाहती हूँ, कि आप जल्द-से-जल्द काम शुरू कर दें। हमारे पास समय बहुत कम है। कल सुबह नौ बजे प्लेन से मेरे पति लन्दन से यहाँ पहुँच जाएँगे, और मुझे उन्हें ही वह चित्र उपहार में देना है, जिसे बनाने के लिए मैंने आपको दिल्ली से यहाँ बुलाया है।"

मैंने चाय की एक चुस्की ली और कहा—"ठीक है।"

चाय समाप्त होते ही वे उठ खड़ी हुईं। बोलीं—"आप अपना जरूरी सामान यहीं ले आइए, तब तक मैं भी तैयार होकर आ जाती हूँ।"

वे अन्दर चली गयीं। मैं सामान लाने अपने कमरे में चला गया। रंग और कूचियों-की नन्हीं-सी पेटी लिये जब मैंने ड्राइंग-रूम में प्रवेश किया, सहसा मेरे पाँव दरवाजे पर ही रुक गये। मिसेज उषा जायसवाल सोफे पर आँखें मूँदे लेटी थीं और उन्होंने जो कपड़े पहन रखे थे, उनसे दूर से भी उनके शरीर का एक-एक अंग स्पष्ट दीखता था।

शायद उन्होंने पाँव की आहट से मेरा आना भाँप लिया। वैसे ही आँखें मूँदे पड़ी-पड़ी बोलीं—"संकोच की जरूरत नहीं, आ जाइए।"

मैं जाकर ठीक उनके सामने सोफे पर बैठ गया। थोड़ी देर बाद उन्होंने अपनी आँखें खोलीं और आहिस्ता से उठकर बैठते हुए कलाई मे बँधी घड़ी में वक्त देखकर मुझसे कहा—"सात से कुछ ज्यादा ही हो रहा है। मेरा खयाल है, आप अपना काम शुरू कर दीजिए।"

मैं उठ खड़ा हुआ। वे बोलीं—"अभी से दस बजे तक हम काम करेंगे, फिर दस बजे खाना खाकर एकाध घण्टे आराम करने के

बाद हम फिर अपना काम शुरू कर देंगे। सुबह नौ बजने के पहले वह चित्र जरूर तैयार हो जाना चाहिए।"

"हो जाएगा।" मैंने कहा और आगे बढ़कर दीवार से लगाकर रखे हुए स्टैंड पर कैनवास तानते हुए तनिक मुड़कर भटकती आँखों से एक बार उन्हें देखा। वे सोफे पर फिर पूर्ववत् लेट गयी थीं। सारी तैयारी कर चुकने के बाद, मैंने स्टैंड को खींचकर उनके सोफे के पास लगा दिया और उन्हें आवाज दी। वे उठकर बैठ गयीं। थोड़ी देर तक बड़ी ढीठ आँखों से एकटक मुझे देखती रहीं, फिर मुझ पर से अपनी नजर हटाते हुए बड़े शान्त स्वर में बोलीं—"देखिए, मुझे ग़लत न समझिएगा। मुझे मेरे सौन्दर्य का चित्र चाहिए। इसके लिए आप जैसे चाहिए, मेरे अंगों को देख-निरख लीजिए।"

मुझे औरतों के सैकड़ों चित्र बनाने का अनुभव था, फिर भी उनके प्रस्ताव की ढिठाई से मैं तनिक संकोच में पड़ गया। मैंने अस्पष्ट रूप से उसे टालने के उद्देश्य से कहा—"आप जैसे लेटी थीं, वैसे ही लेटी रहिए। मुझे यकीन है, आपको उस चित्र से कोई शिकायत न होगी।"

"अच्छा।" उन्होंने एक नजर मुझे देखते हुए कहा और पूर्ववत् लेटते हुए अपनी आँखें बन्द कर लीं। मुझे यह अच्छा लगा। थोड़ी देर तक उन्हें चुपचाप गौर से देखते रहने के बाद मैंने पास की टेबुल पर पड़ी अपनी कॉपी उठाकर सुविधा और सूझ के लिए पूरे मनोयोग से पेंसिल से उनके विविध अंगों के स्केच बनाने शुरू कर दिये। पन्ने पर पन्ने, स्केच पर स्केच। वक्त गुजरता गया। सहसा मेरी और उनकी तल्लीनता को भंग करते हुए नौकर ने आकर सूचना दी, भोजन का वक्त हो गया था।

वे जैसे गहरी नींद से जगीं। उठकर बैठते हुए अधमुँदती आँखों से एक बार गौर से मुझे देखा और उठकर खड़ी होते हुए बोलीं—"चलिए।"

मैंने कॉपी वहीं फर्श पर रख दी और उठ खड़ा हुआ। भोजन

से निबट कर वे आराम करने के लिए अपने कमरे में चली गयीं। मैं ड्राइंग-रूम में लौट आकर क्षण भर पहले बनाये उनके अंगों के विविध स्केचों को उपयोग की संभावनाओं की दृष्टि से जाँचने-परखने बैठ गया। जाने कितना वक्त गुजर गया। मेरा ध्यान टूटा, जब सहसा मिसेज उषा जायसवाल की हल्की शान्त आवाज मेरे कानों में गूँज उठी—"अरे, आपने थोड़ी देर भी आराम नहीं किया!"

शिष्टाचार का खयाल करते हुए मैं उठ खड़ा हुआ और ठगा-सा रह गया। मेरी आँखों के सम्मुख जो मिसेज उषा जायसवाल खड़ी थीं, उनके रूप का आकर्षण थोड़ी देर पहले भी मैंने अनुभव किया था, किन्तु इस क्षण विशेष के रूप की तो कोई तुलना ही नहीं थी। मैंने अपनी आँखें झुका लीं और उनके रूप के इंद्रजाल से बच निकलने के लिए आगे बढ़कर खिड़कियों के पार देखने लगा। वर्षा अब थम गयी थी और बीच-बीच में आसमान में तारे नजर आ रहे थे। कभी-कभी बहुत दूर बिजली चमकने के साथ-साथ मिसेज उषा जायसवाल के बँगले के अहाते में लगे फूलों के पौधे चमक उठते थे।

अगर मिसेज उषा जायसवाल मुझे पुकारतीं नहीं तो शायद मैं काफी देर तक वैसे ही खिड़की के पास खड़ा-खड़ा फूलों के पौधों का रह-रहकर चमकना देखता रहता। मैंने मुड़कर उनकी ओर देखा। वे सोफे पर लेट गयी थीं और आँखें मूँदे मेरे निकट लौट आने की प्रतीक्षा कर रही थीं। मेरे पाँव की आहट से मुझे अपने निकट भाँपते हुए उन्होंने कहा—"देखिए, अब वक्त बहुत थोड़ा रह गया है। आप काम शुरू कर दीजिए।"

कहकर वे फिर खामोश हो गयीं और वैसे ही आँखें मूँदे पड़ी रहीं। मैं क्षण भर चुपचाप उनके अप्रतिम सौन्दर्य को एकटक देखता रहा, फिर एक स्टूल खींचकर स्टैंड के पास बैठते हुए मैंने अपनी कूचियों की पेटी उठा ली और अपना काम शुरू कर दिया। लगभग एक घण्टा बीत गया। रेखाएँ खींचते-रचते सहसा बिजली की तेज रोशनी से

चौंककर तनिक रुककर सिर उठाकर मैंने खिड़की के पार देखा। बाहर फिर घना अँधेरा फैल गया था और रह-रहकर बादलों के गरजने के साथ जोर से बिजली चमक उठती थी। वर्षा भी शुरू हो गयी थी और हवा के झोंकों के साथ खुली खिड़की से रह-रहकर फुहारों की लहरें बहुत निकट तक आ जाती थीं। कैनवास को फुहारों की लहरों से बचाने के खयाल से खिड़की बन्द करने के लिए उठा ही था, कि सहसा वे हड़बड़ाकर उठ खड़ी हुईं। उनके इस तरह सहसा उठने से चौंककर रुककर मैंने मुड़कर उनकी ओर देखा और क्षण भर देखता ही रह गया। वे घबरायी आँखों से खिड़की के पार बिजलियों का चमकना देख रही थीं। मैंने तेज कदमों से चलकर खिड़की बन्द कर दी और लौट आकर उनके निकट खड़े होते हुए जिज्ञासा की—"क्या बात है? आप इस तरह घबरायी हुई क्यों हैं?"

उन्होंने कुछ कहा नहीं, सिर्फ वैसी ही एक घबरायी हुई नजर मुझ पर डालते हुए सोफे पर धम से बैठ गयीं और अपनी बाँहों में अपना सिर छिपा लिया। मैं थोड़ी देर तक वैसे ही खड़ा-खड़ा उनके लेट जाने की प्रतीक्षा करता रहा, फिर जाकर स्टूल पर बैठ गया और समय की कमी का खयाल करते हुए फिर अपनी कूची उठाई और काम शुरू कर दिया। मगर मुश्किल से पाँच-सात मिनट गुजरे होंगे, कि उन्होंने मुझे यकायक पुकारते हुए कहा- 'सुनिए बीच-बीच में जरा बातें भी करते चलिए, वरना मेरे लिए यों खामोश लेटे रहना मुश्किल हो जायगा।"

"अच्छा।" मैंने कहा और फिर काम शुरू करने के खयाल से रंगों के घोल में कूची डुबो दी। हामी तो मैंने भर दी, मगर बातचीत का कोई सिलसिला न जम सका। हारकर मैं उन्हीं से बातों का सिलसिला शुरू करने का आग्रह करने ही वाला था, कि यकायक फिर वे एक झटके से उठ खड़ी हुईं और बोलीं—"देखिए, आप कुछ बातें कीजिए, वरना मैं यहाँ से चली जाऊँगी।"

बात कुछ ऐसे झटके से उठकर कही गयी थी कि मैं भी झटके से उठ खड़ा हुआ। मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। मैंने किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में कलाई में बँधी अपनी घड़ी पर निगाह डाली। एक बज रहा था। मुझे एक बात सूझ गयी। मैंने कहा—"ऐसे कैसे होगा? हमारे पास समय बहुत कम है और अभी सारा चित्र तैयार करने को पड़ा है। जैसे इतनी देर आप खामोश लेटी रहीं, वैसे ही थोड़ी देर और सही।"

शायद मेरी बात ने असर किया। वे सोफे पर बैठ गयीं। क्षण भर जाने क्या सोचती रहीं। मैं अपने स्टैंड के पास लौट आया।

मुश्किल से आधा घंटा बीता होगा कि उनके पुकारने से फिर मेरी तल्लीनता भंग हो गयी। वे जाने कब उठकर मेरे पास आकर बैठ गयी थीं और मुग्ध आँखों से मेरा रंगों और रेखाओं से खेलना देख रही थीं।

उनके निकट आकर बैठ जाने से मैंने थोड़ी असुविधा का अनुभव किया, फिर भी मैंने अपना काम बंद नहीं किया। मुझे सुबह नौ बजने के पहले हर हालत में यह चित्र तैयार कर देना था। मगर यकायक वे फिर मेरी तल्लीनता को भंग करते हुए उठ खड़ी हुईं। बोलीं—"देखिए, बुरा न मानिएगा, मगर मुझसे यह खामोशी बिल्कुल झेली नहीं जाती।" कहकर उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना वे तेज कदमों से चलकर सोफे तक गयीं और उस पर औंधी लेटकर फफक-फफक रोने लगीं। मेरे लिए यह बिल्कुल नया और ऐसा अनुभव था, जिसकी मैंने आशा नहीं की थी। मैं घबड़ाकर उठ खड़ा हुआ, लेकिन मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मुझे क्या करना चाहिए। बाहर शायद वर्षा का वेग कुछ बढ़ गया था और फुहारों के आघात से खिड़कियों का शीशा रह-रह कर झनझना उठता था।

मैंने घड़ी देखी। दो से कुछ ज्यादा हो रहा था। मैंने थोड़ी बेचैनी का अनुभव किया।

यदि थोड़ी देर और प्रतीक्षा करनी पड़ती तो यह निश्चित था कि मैं सब कुछ छोड़-छाड़ कर बरसात की इस भयानक रात की परवाह किए बिना दरवाजा खोलकर कहीं भाग जाता मगर तभी वे उठ खड़ी हुई और आकर मेरे निकट कुर्सी पर बैठते हुए, पहले की तरह ही शांत स्वर में बोलीं—"अच्छा, मिस्टर वर्मा, मैंने काफी मानसिक संघर्ष के बाद यह निश्चय किया है, कि अगर आपको एतराज न हो तो इस खामोशी को तोड़ने के लिए मैं आपको अपनी ही जिंदगी की चंद बातें बताना चाहूँगी। शायद यह अच्छा भी होगा। आप चित्र में उन भावनाओं की सही अभिव्यक्ति कर सकेंगे, जिनके बिना शायद चित्र का मंतव्य अधूरा ही रह जाएगा।"

मैंने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। एक बार गौर से उन्हें देखा। मन-ही-मन सोचा, विचार किया। फिर कहा—"ठीक है। आप कहिए। मैं ध्यान से सुनूँगा।"

फिर खामोशी छा गयी। मैं रंगों के मिश्रण से स्थिति और मनोदशा के अनुरूप इच्छित प्रभाव उत्पन्न करने की चेष्टा करने लगा। थोड़ी देर बाद उन्होंने धीरे-धीरे कहना शुरू किया—"आपको शायद मालूम हो, मिस्टर वर्मा, कि मेरे पति दीनदयाल जायसवाल एक बहुत बड़े व्यापारी हैं और आज से लगभग सात साल पहले हमारा विवाह यहीं आर्यसमाज के मंदिर में सम्पन्न हुआ था। मगर....

क्षण भर रुक कर उन्होंने कथा की कंड़ी को जोड़ते हुए कहा—"मगर क्या सोचा था, और क्या हो गया। विवाह के दूसरे ही दिन वे व्यापार के बहाने विदेश चले गये। दिन गुजरते गये। मैं प्रतीक्षा करती रही। कुछ दिनों के बाद मुझे मालूम हुआ, व्यापार तो सिर्फ बहाना था।"...

कहते-कहते वे सहसा रुक गयीं। जाने उनके स्वर में एक कैसी वेदना थी कि सहसा मेरे हाथ से छूटकर कूची फर्श पर गिर पड़ी। मैं उसे उठाने के लिए उठ खड़ा हुआ। उन्होंने प्रतीक्षा नहीं की। आगे

कहना शुरू कर दिया—"शायद आप यह सोचते होंगे कि मैं मिस्टर जायसवाल की इकलौती बीवी हूँ। नहीं, मैंने जानबूझ कर उनसे विवाह किया। मुझे मालूम था, कि मुझसे पहले भी उनकी वैधानिक-अवैधानिक छह बीवियाँ और थीं।"....

मैं कूची उठाने के लिए फर्श की ओर झुका ही था, जब उनका यह वाक्य मेरे कानों में पड़ा और न चाहते हुए भी मेरी आखें उठ कर उनकी आँखों से टकरा गयीं। मैं वहीं फर्श पर बैठ गया। थोड़ी देर तक खामोशी छाई रही। मैंने जिज्ञासा की—"जानबूझकर आपने ऐसी गलती क्यों की?"

उन्होंने तुरन्त मेरी जिज्ञासा का उत्तर नहीं दिया। वे थोड़ी देर तक एकटक खिड़की की ओर देखती रहीं।

फिर उठीं और आकर फर्श पर ही मेरे निकट बैठ गयीं। थोड़ी देर तक खामोश बैठी रहने के बाद उन्होंने मेरी ओर एक बार परि-चित ढीठ आँखों से देखा और फिर कहना शुरू कर दिया—"आपने गलत सोच लिया। मैंने कोई गलती नहीं की। मैंने जानबूझकर विवाह किया। मैंने सदा अपने लिए धन की, ऐश्वर्य की कल्पना की थी। मेरे पास रूप था, यौवन था, उनके पास धन था, ऐश्वर्य था। मैंने सौदा किया और मैं यह मानती हूँ कि मुझसे इस सौदे में कोई गलती नहीं हुई। मिस्टर जायसवाल ने विवाह के दिन ही मेरे नाम सात लाख रुपया बैंक में जमा कर दिया। दरअसल मेरा दुःख दूसरा है। जब उनके विदेश जाने के बाद मुझे यह मालूम हुआ कि विदेशों में वे मुझसे अलग किसी नये सुख की खोज में भटक रहे हैं, तो मुझे एक अजीब-से अपमान का बोध हुआ। जिस रूप, जिस यौवन, अपने शरीर के जिस आकर्षण पर मेरा अटूट विश्वास था, वह निर्थरक प्रतीत होने लगा। मैंने उन्हें लौटा लाने की भरपूर कोशिश की, मगर मेरी हर कोशिश नाकामयाब साबित हुई।"

कहते-कहते उनका स्वर रुँध आया और वे फिर रुक गयीं। कुछ

देर बाद फिर बोलीं—"अब लगता है धन नहीं चाहिए, अब बस वही चाहिए·जिसका अभाव इन सात वर्षों में अनजाने भाव से मुझे सालता रहा है। बड़ी मुश्किल से मैं उन्हें एक दिन के लिए यहाँ आने को राजी कर सकी हूँ। और मैं चाहती हूँ कि मेरे चित्र से वह प्रकट हो, जिसे मैंने चाहा, किन्तु पा न सकी।"...

यकायक मुझे बड़ी बेचैनी का अनुभव हुआ। मैंने घबराकर घड़ी पर निगाह डाली। सुबह होने में कुल दो घंटे की देर थी। बाहर आँधी-पानी का वेग और भी बढ़ गया था और रह-रह कर ऐसा लगता था, कि उनके आघात से खिड़कियाँ और दरवाजे टूट जाएँगे। मेरी अब समझ में नहीं आ रहा था कि सुबह नौ बजने के पहले चित्र कैसे पूरा हो सकेगा।

मैंने फ़र्श से कूची उठा ली और झटके से उठकर खड़ा होने ही वाला था कि सहसा बादल की भयानक गरजन के साथ बड़े जोर से बिजली कड़की और यकायक कमरे में बड़ी तेज रोशनी के बाद भयानक अँधेरा छा गया था। वे, जो मेरे समीप ही बैठी थीं, एक जोर की चीख के साथ मुझसे बड़े जोर से चिपट गयीं और मैंने अनुभव किया कि भय से उनका शरीर थरथर काँप रहा था।

मैं किंकर्त्तव्यविमूढ़ उन्हें वैसे ही चिपटाए खामोश बैठा रहा और अपने वक्ष से लगे उनके सिर को हल्के थपथपाता रहा। मेरे लिए यह एक नया अनुभव था और घबराहट, भय और बेचैनी के बावजूद बड़े अनजाने ढंग से वह अनुभव मुझे अच्छा लग रहा था।

वक्त गुजरता गया। मैं उनके भय से थरथर काँपते शरीर को बाँहों में थामे आँखें मूँदे आत्म-विभोर बैठा रहा। इसी दशा में कब नींद आ गयी, पता नहीं।

जब नींद खुली, बादल छट गये थे और खिड़कियों-दरवाजों से होकर धूप अंदर आ रही थी। वे नहा-धोकर नये वस्त्रों में सजी-धजी सामने सोफे पर बैठी मेरे जगने का इंतजार कर रही थीं। मैं हड़बड़ाकर उठ

बैठा। कलाई में बँधी घड़ी पर निगाह डाली। पौने नौ हो रहा था। सहसा मेरे मुख से एक चीख-सी निकल गयी।

वे घबराकर उठ खड़ी हुईं। मेरे निकट आकर सवाल किया—"क्यों क्या बात है?"

बड़ी मुश्किल से मैंने कहा—'आपका चित्र...."

वे क्षण भर खड़ी मुस्कराती बड़ी-बड़ी ढीठ आँखों से एकटक मुझे देखती रहीं, फिर मेरे बिल्कुल पास आकर सहसा आवेश में आकर मुझे अपनी बाहों में लेकर मेरे वक्ष पर अपना सिर टेक दिया और बोलीं—"नहीं, अब उसकी जरूरत नहीं। मैंने फोन कर दिया है। मैं उनसे मुलाकात नहीं करूँगी। मुझे धन नहीं चाहिए, ज़िन्दगी चाहिए—ज़िन्दगी....तलाक—तुम!"....

मुझसे कुछ कहते न बन पड़ा। मैं चुपचाप एकटक आसमान की ओर देखता रहा।

●

सामने वाली खिड़की

मेरे मकान के बगल में जो मकान है, उसकी दूसरी मंजिल पर के एक कमरे की खिड़की ठीक मेरे कमरे की खिड़की के सामने खुलती है। शायद मैंने बात जरा गलत ढंग से कह दी। दरअसल वह खिड़की मेरी खिड़की के सामने खुलती नहीं है, अजीब बदतमीज झटके से बंद होती है। ऐसा नहीं कि खिड़की बंद हुई तो क़िस्सा खत्म हो गया। दरअसल खिड़की बन्द होती है और क़िस्सा शुरू हो जाता है। हाथों से छूटकर कोई आईना चूर-चूर हो जाता है, बालों में उलझी हुई कंघी छिटक कर दूर जा गिरती है, टीका करने के लिए हाथों मे ली हुई सिंदूर की डिबिया यकायक अजीब-सी झनझनाहट के साथ जमीन पर उछलने लगती है। यह सब क्यों होता है, यह मुझे ठीक मालूम नहीं और शायद मैं मालूम करना चाहूँगा भी नहीं। इसकी एक वजह है। मुझे मकानमालिक ने चंद नसीहतें दे रखी हैं और कह रखा है कि किसी दिन असावधानी से ही सही कोई भूल-चूक हो गयी, तो गजब हो जाएगा। अब, चूँकि मैं नहीं चाहता कि गजब हो, इसलिए मैं इनकी ओर से कटा-कटा-सा रहने का आदी हो गया हूँ।

एक बात पहले ही बता दूँ। मकानमालिक की नसीहतों के बावजूद चंद गलतियाँ मुझसे हो गयीं। एक यह कि मुझे किसी भी हालत में यह मालूम नहीं होना चाहिए था कि मेरे बगल का मकान मेरे मकानमालिक का है। दुर्घटना होनी थी, हो गयी और इसका मुझे पछतावा है, रहेगा। लेकिन दरअसल गलती चाहे मेरी हो, दोष मेरा नहीं है। दोष मकानमालिक के बगल के वकील साहब का है। उन्होंने ही मेरे कानों के पास अपना मुँह लाकर फुसफुसाहट की-सी

आवाज में कहा—"देखिए, सू ल से आप एक होनहार युवक मालूम होते हैं, और मुझे इसकी बड़ी खुशी है कि आप डिप्टी होकर पहले-पहल हमारे ही शहर में आये है, फिर भी आप से एक बात कहता हूँ और मैं चाहूँगा कि आप उसकी गाँठ बाँध लें। आप के पहले उस मकान में आप ही जैसे चार-पाँच किरायेदार रह चुके हैं और मैं यह नहीं चाहता कि आपकी भी वही गति हो, जो उनकी हुई।"

कहकर वकील साहब कुछ देर तक गौर से मुझे देखते रहे। शायद मैं फिर बात जरा गलत ढंग से कह गया। दरअसल देख तो मैं उन्हें रहा था, वे तो मेरा मुआयना कर रहे थे। काफी देर तक मेरा मुआयना कर लेने के बाद उनके होंठों पर मुस्कान की एक हल्की रेखा और आँखों में संतोष की एक हल्की चमक पैदा हुई और उन्होंने तनिक रुककर मुझे एक बार फिर गौर से देखकर कहा—"जाने क्यों, इस पहली मुलाकात में ही आपसे कुछ अपना-सा लगने लगा। फिर भी आपको एक बात का वचन देना होगा।"

चंद ही रोज पहले मैंने एक जासूसी उपन्यास पढ़ा था। उसमें हत्यारे के बोलने की शैली कुछ-कुछ यही थी। उसने कुछ इसी तरह नायक को अपने विश्वास में समेट कर एक दिन मार डाला था। सहसा मुझे वह दृश्य याद आ गया और बड़ी मुश्किल से मैंने कहा—"कहिए।"

शायद मैं बात को फिर गलत ढँग से कह गया। 'कहिए' मैंने कहा नहीं, अनजाने ही मेरे मुँह से निकल गया मेरी घबराहट को शायद वकील साहब ने लक्ष्य किया। उन्होंने हवा का घूँट निगलते हुए कहा—"देखिए, आपके चेहरे पर की घबराहट मैं देख रहा हूँ और यह स्वाभाविक भी है, क्योंकि मैं जो कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर घबराहट होगी, यह तय है। मगर घबराने की जरूरत नहीं है, जरूरत है सिर्फ हर ओर से बेखबर रहने की, बस। हाँ, तो, जो मैं कहने जा रहा हूँ, उसे अगर आप किसी से न कहें तो अच्छा होगा।

कहेंगे आप तो नुकसान आप ही का होगा। देखिए, मुझे कहना नहीं है, सिर्फ आगाह करना है क्योंकि आप जिस मकान में आना चाह रहे हैं, उसके लक्षण अच्छे नहीं हैं। आपके पहले के चार किरायेदारों में से एक ने खुदकुशी कर ली, एक को पागलखाने जाना पड़ा, एक, एक रात अचानक अपना सब कुछ उसी मकान में छोड़कर जाने कहाँ भाग गया और एक को मुहल्ले वालों के हाथों बुरी तरह पिटकर मकान खाली करना पड़ा। और मुझे इसका दुख है कि इन लोगों ने मेरी चेतावनी की बिल्कुल परवाह न की।"

मुझे लगा कि भीतर-ही-भीतर मेरा दम घुटा रहा है और अब चंद मिनटों में ही जासूसी उपन्यास की वह घटना घटित होगी, नायक मारा जायगा। फिर भी मैंने वैसे ही खामोश बैठे रहकर वकील साहब को आगे कहने का मौका दिया। वकील साहब ने कहा—"देखिए, यों बात कोई खास वैसी नहीं है। छोटी-सी ही है। सिर्फ उसका नतीजा बुरा होता है। बात बस इतनी-सी है कि जिस मकान को आप किराये पर लेना चाहते है, उसकी दूसरी मंजिल के एक कमरे में कभी-कभी एक चुड़ैल आती है।"

जब वकील साहब बोल रहे थे, उनकी आँखें दूर जाने क्या देख रही थीं, मगर ज्योंही उन्होंने अपना वाक्य पूरा किया, उनकी आँखें एक झटके से मुड़कर मेरी आँखों में कौंध गयीं। ऐसी आँखें मैंने पहले कभी नहीं देखी थीं। अभी कुछ क्षणों पहले तक वकील साहब की आँखों में भी मुझे ये आँखें नजर नहीं आयीं थीं। लाल-लाल, फैलकर बड़ी-बड़ी हो आयी आँखों में रक्त का रंग अपनी पूरी भयानकता से झलक आया था। मेरे सारे बदन में एक झुरझुरी-सी दौड़ गयी। मैंने जासूसी उपन्यास पढ़ा था और मुझे मालूम था कि जब ऐसी आँखें नायक की आँखों में कौंधती हैं, नायक की बड़ी बेरहम मौत हो जाती है। मेरी समझ में नहीं आ रहा था कि मैं क्या करूँ और अगर वकील साहब यकायक उठकर अपने मकान के अन्दर चले न जाते तो यह

तय था कि वैसी हालत में मेरे हृदय का स्पंदन यकायक बन्द हो जाता।

वकील साहब के अन्दर जाते ही मैं भी उठा और भागते हुए सड़क पर आ गया। जान में जान आयी-सी मालूम हुई। मुझ में अब मकानमालिक से मिलने का उत्साह मर चुका था। मैं वापस लौट आया। मगर भागने से क्या होता है? लगभग एक सप्ताह और शहर की गलियों की खाक छानने के बाद मुझे अपने इस मकानमालिक की शरण में आना ही पड़ा।

मेरे कुंडी खटखटाने पर एक आदमी मुस्कराता हुआ अंदर से आकर नमस्कार के लिए हाथ जोड़ते हुए मेरे सामने खड़ा हो गया। मैंने एक बार सिर से पाँव तक उस आदमी को देखा। पहली नजर में ही वह आदमी मुझे पढ़ा-लिखा और काफी सभ्य मालूम हुआ। उस आदमी ने मुस्कराते हुए फिर एक बार मेरी ओर देखा और कहा—"आपका परिचय और शुभ नाम?"

मैंने अपना नाम बताया, परिचय दिया। सुनकर उस आदमी ने फिर एक बार वैसे ही मुस्कराते हुए मेरी ओर देखा। मुझे वह प्रसन्न व्यवहार बड़ा अच्छा लगा। मैंने बात को आगे बढ़ाने के खयाल से कहा—"अगर आपको कोई एतराज न हो तो मैं जल्द-से-जल्द इस मकान में आ जाना चाहूँगा। आप अपने टर्म्स बता दीजिए।"

उस आदमी ने तुरंत मेरी बात का कोई उत्तर नहीं दिया। वैसे ही मुझे देखता और मुस्कराता रहा। थोड़ी देर बाद उस आदमी ने कहा—"टर्म्स क्या बताऊँ? आप अफसर होकर आये हैं, जो दे देंगे, ले लूँगा। यों भी पैसे के लिए मैं मकान किराए पर उठाना नहीं चाहता। मगर चंद बातें मैं आपसे जरूर करना चाहूँगा।"

मैंने कहा—"कहिए।"

वह आदमी बड़ा प्रसन्न मालूम हो रहा था। बातें चलीं तो चल पड़ीं। कोई ढाई-तीन घंटे बाद जब मैं विदा माँगकर चला, मेरे

मन में उस आदमी के प्रति झल्लाहट और आदर का मिला-जुला भाव था।

भाग्यवश दूसरा ही दिन रविवार का दिन था और मैं दिन के दस बजते-न-बजते सामान के साथ इस मकान में आ गया। मकान मुझे बड़ा पसंद आया। थोड़ी देर तक मैं कमरे की चीजों को अपने मन के मुताबिक इधर-उधर करता रहा फिर आकर बरामदे पर पड़ी कुर्सी पर बैठकर नये मकान के नये अनुभव की विवेचना में व्यस्त हो गया।

जब नौकर ने खाना तैयार हो जाने की सूचना दी, याद आया कि मुझे नहा लेना चाहिए और बक्स से कपड़े निकाल लाने के खयाल से मैं फिर अपने उस बड़े से कमरे में दाखिल हुआ और दाखिल होते ही यकायक मेरे शरीर का रक्त जमकर बर्फ होता हुआ-सा मालूम हुआ। मैं जड़वत् खड़ा बड़ी देर तक उस खिड़की को देखता रहा, जो कि ठीक मेरी खिड़की के सामने खुलती थी। शायद बात को मैं गलत ढंग से कह गया, क्योंकि दरअसल हुआ यह कि वह खिड़की मेरे कमरे में दाखिल होते ही बड़े भयानक ढंग से एक झटके के साथ बंद हो गयी। खैर। मैंने नहाया-खाया, आराम किया और जब शाम हुई, चाय वगैरह पीकर सिनेमा चला गया।

सिनेमा से लौटकर खा-पीकर कुछ पढ़ने के खयाल से एक किताब लेकर बिस्तर पर लेटा ही था कि फिर एक अजीब-सी घटना हो गयी। यकायक मुझे लगा कि हँसी की एक बड़ी महीन हल्की लहर मेरे बहुत निकट उत्पन्न होकर फैल गयी। मैंने आहट लेने की कोशिश की। नौकर अपने कमरे में सो गया था। मेरी कुछ समझ में न आया। वकील साहब के शब्द रह-रहकर कानों में गूँज उठते। ऐसी हालत में रोशनी गुल करने का तो कोई सवाल ही पैदा नहीं होता था। चुपचाप वैसे ही लेटे-लेटे मैं आगे की घटनाओं की कल्पना और प्रतीक्षा करता रहा।

शायद वैसे ही पड़े-पड़े मुझे झपकी आ गयी थी, क्योंकि मेरे कानों में एक औरत के हल्के चीखने की आवाज़ आयी, मुझे नींद टूटने का स्पष्ट अनुभव हुआ। मैं घबराकर उठ बैठा और बड़ी देर तक वैसे ही बैठा आहट लेता रहा, मगर फिर कोई आवाज़ सुनायी न पड़ी। मैंने बड़ी देर बाद मुश्किल से मन को समझाया और फिर लेट गया। जरूर यह मेरा ही भ्रम रहा होगा, या मुमकिन है, मैंने कोई सपना देखा हो।

लगभग तीन महीने और गुजर गये और इस बीच मुझे इसका यकीन हो चला कि वकील साहब की चेतावनी प्रायः निरर्थक है। दिन बड़े मज़े से बीतने लगे।

दैवयोग ही कहिए। शहर में टायफॉइड की लहर चली और मैं भी बीमार होकर बिस्तर पर पड़ गया। एक दिन दोपहर को खा-पीकर लेटे-लेटे नौकर से इधर-उधर की बातें कर रहा था कि यकायक मेरी नजर अपने कमरे की खुली हुई खिड़की पर जाकर टिक गयी। खिड़की के सामनेवाली खिड़की खुली हुई थी। उसमें लगा हुआ पर्दा हवा से रह-रहकर उड़ जाता था और अन्दर की सजावट झलक जाती थी। सजावट के अनुसार अब मुझे यह स्पष्ट हो गया था कि उस कमरे में कोई औरत रहती है।

शायद नौकर ने मेरी उत्सुकता भाँप ली, क्योंकि जब मैंने उसकी उपस्थिति का खयाल करते हुए वहाँ से अपनी नजर हटाकर उसकी ओर घुमायी, यह देखकर मैं किंचित् संकोच में पड़ गया कि वह फटी-फटी आँखों से मुझे ही देख रहा था। मैंने उसकी नजर से कतराने के लिए अपनी आँखें मूँद लीं।

यकायक मेरी एकाग्रता को भंग करते हुए उसने कुछ अजीब-से स्वर में मुझे पुकारा—"मालिक !"

मैं क्षणभर सोचता रहा। बोला—"क्या है, रे !"

"नहीं, कुछ खास नहीं।" कहकर थोड़ी देर खामोश रहने के बाद उसने कहा—"एक बात पूछना चाहता हूँ आपसे। पूछूँ?"

"पूछ"—मैंने कहा। कहने को तो मैंने पूछने को कह दिया, मगर उसके बोलने के ढंग से जाने क्यों मुझे बड़ा भय मालूम हुआ।

वह बड़ी देर तक खामोश रहा। जाने क्या सोचता रहा। फिर अजीब-सी आवाज में बोला—"मालिक, आपको यह मकान बहुत पसंद है? आप इसे छोड़ नहीं सकते?"

मैंने चौंककर अपनी आँखें खोल दीं। उठकर बैठने की कोशिश करते हुए सवाल किया—"क्यों?"

मेरा सवाल सुनकर वह कुछ देर तक जाने क्या सोचता रहा। उसके चेहरे से उसकी घबराहट प्रकट हो रही थी। थोड़ी देर बाद बड़ी मुश्किल से अपनी घबराहट को वश में करते हुए उसने कहा—"आप सुनकर हँसेंगे तो जरूर, मगर मैंने सुना है कि उस कमरे में जो औरत रहती है, उस पर दो-दो जिन्न आते हैं। वह..."

शायद वह कुछ और कहने जा रहा था, मगर यकायक उसकी नजर भटकती हुई मेरी खिड़की की ओर गयी और जाने क्या हुआ कि उसकी घिग्घी बँध गयी। मैं घबराकर ठीक से बैठते हुए उस ओर देखने के लिए मुड़ा ही था कि खिड़की के सामने वाली खिड़की अजीब भयानक झटके के साथ बंद हो गयी।

दो दिन और गुजर गये। मन-ही-मन मैंने यह तय कर लिया कि मकान ढूँढने लायक होते ही मैं यह मकान छोड़ दूँगा।

तीसरे दिन रात को मैं जरा जल्दी ही सो गया। जाने क्यों बड़ी कमजोरी मालूम हो रही थी। मगर यकायक आधी रात को मेरी नींद टूट गयी। मैंने एक बड़ा भयानक सपना देखा था। वकील साहब अजीब-से वहशी वेश में खड़े थे और चिल्ला-चिल्लाकर बोल रहे थे—"तुम्हें मेरी बात माननी ही होगी, नहीं तो कोड़े से मार-मारकर मैं तुम्हारी खाल खींच लूँगा।"

मेरे कमरे में बड़ा भयानक अँधेरा फैला हुआ था। शायद मेरे सो जाने के बाद नौकर ने बत्ती गुलकर दी थी। मुझे रह-रहकर अपने बहुत करीब कोड़े मारने और किसी औरत के दबे स्वर में चीखने-रोने की आवाज सुनाई पड़ रही थी। मुझे बड़ा भय मालूम हुआ। मैंने उठकर बैठते हुए नौकर को आवाज दी और जवाब न पाकर बिस्तर से कूदकर कमरे से बाहर भाग आया।

नौकर की नींद नहीं टूटी और उस रात फिर मैं सो न सका। किसी तरह कमरे में लौट आकर रोशनी जलाकर बिस्तर पर लेटे-लेटे नींद बुलाने की कोशिश करता रहा।

दिन बीते। अब मैं फिर दफ्तर जाने लगा। दूसरे मकान की तलाश भी शुरू कर दी। अब इस मकान में एक-एक पल मुझे बड़ा भारी मालूम होने लगा था। मगर रहने लायक कोई मकान हर कोशिश के बावजूद न मिला।

और फिर एक दिन एक दुर्घटना हो गयी। मुझे सरकारी-जाँच-पड़ताल के सिलसिले में दूर के एक गाँव में जाना पड़ा और यह सोचकर कि उसमे चार-पाँच दिन तो लग ही जायेंगे, मैंने नौकर को घर जाने के लिए तीन-चार दिनों की छुट्टी दे दी। मगर आशा के विपरीत मुझे उस काम से उसी रात फ़ुर्सत मिल गयी और मैं वहाँ ठहरना बेकार समझकर आधी रात को वापस आ गया।

ताला खोलकर मैंने कमरे में प्रवेश किया। बत्ती जलायी। बिस्तर झाड़ा। बेहद थका था। दरवाजा वगैरह बन्द कर चुकने के बाद बत्ती गुलकर सो जाने के लिए बिस्तर पर पड़ गया। बड़ी देर तक आँखें मूँदे पड़ा रहा, पर नींद नहीं आयी। हारकर उठा और हवा के लिए कमरे के दरवाजे और खिड़कियाँ खोलते हुए मैंने उसी झोंक में अपनी वह खिड़की भी खोल दी, जिसके सामने की खिड़की इन दिनों मेरे लिए भय और आतंक का कारण हो गयी थी।

खिड़की तो मैंने खोल दी, लेकिन मैंने जो देखा, उससे मुझे लगा

कि यकायक मेरे शरीर का रक्त जमकर बर्फ हो गया। वह खिड़की सिर्फ खुली हुई ही नहीं थी, उस पर का पर्दा भी उठा हुआ था और उसके ठीक सामने टँगे आदमकद आईने के सामने बिल्कुल निरावरण खड़ी एक जवान औरत अपने बाल सँवार रही थी।

उस औरत ने खिड़की खुलने की आवाज से चौंककर मेरी ओर देखा। पलभर देखती रही। फिर हलके मुस्कराई और मेरी ओर से जैसे विरक्त होकर फिर अपने बाल सँवारने में व्यस्त हो गयी। मेरी कुछ समझ में न आ रहा था। बड़ी मुश्किल से मैंने खिड़की के पार के उस आकर्षक दृश्य से स्वयं को छुड़ाकर वहाँ से हटाया और लाकर बिस्तर पर डाल दिया। वकील साहब भी ठीक कहते थे और मेरा नौकर भी ठीक कहता था।

मैं आँखें मूँदे पड़ा तरह-तरह की कल्पनाएँ करता रहा, तरह-तरह की बातें सोचता रहा। तभी अचानक वह खिड़की बड़े भयानक ढंग से एक जोर के झटके के साथ बंद हो गयी और उसके साथ ही जोर के तमाचे और चोट से तिलमिलाकर चीखने की आवाजें मेरे कानों में गूँज गयीं। मकानमालिक दाँत पीसते हुए कह रहे थे—"बेहया! एक सप्ताह और रह गया है। तुम्हें इसका फैसला करना ही होगा कि तुम दोनों में किसे कुबूल करोगी।"

इसके बाद क्या हुआ, मुझे कुछ मालूम नहीं, क्योंकि शायद उसके बाद मैं होश में नहीं था। लेकिन इसके बाद के दो दिन यानी जब तक नौकर वापस न आ गया, मुझे अपना वक्त बाहर-ही-बाहर गुजारना पड़ा।

रविवार की सुबह नौकर लौटकर आया। मुझे उसका आना बहुत अच्छा लगा। अब इस मकान में अकेले मुझे डर लगता था। दोपहर को नहा-धोकर, खा-पीकर जब मैं आराम करने के लिए बिस्तर पर लेटा, मैंने पाँव दबाने के बहाने नौकर को अपने पास बुला लिया, क्योंकि अब एक नयी बात शुरू हो गयी थी। मेरी खिड़की के सामने

वाली खिड़की अब भी वैसे ही झटके से बन्द होती थी, मगर अब उसके बाद और भी कई आवाजें सुनायी पड़ने लगी थीं। हाथों से छूटकर कोई आईना चूर-चूर हो जाता था, बालों में उलझी हुई कंघी छिटककर दूर जा गिरती थी, टीका करने के लिए हाथों में ली हुई सिंदूर की डिबिया यकायक अजीब-सी झनझनाहट के साथ जमीन पर उछलने लगती थी। एक बात और। अब अक्सर वह जवान औरत मुझे खिड़की के पास से आते-जाते रू-ब-रू दीख जाती थी और उसकी निमंत्रित करती हुई मोहक हल्की मुस्कान मेरे मन में कहीं गहरी चुभ जाती।

पाँव दाबते-दाबते यकायक नौकर ने टोका—"आपने मकान ढूँढा था, मालिक?"

मैंने तनिक रुककर सवाल किया—"मगर तू मकान बदल देने के लिए इतना उतावला क्यों है?"

वह पाँव दाबते-दाबते रुक गया। क्षण भर जाने क्या सोचते रहने के बाद बोला—"यों ही। अजीब-अजीब-सी बातें सुनता हूँ।"

मैं उत्सुक हो आया। जिज्ञासा की—"क्या सुनता है तू?"

वह पाँव दाबना छोड़कर मेरे निकट ही जमीन पर बैठ गया। थोड़ी देर चुप रहने के बाद बोला—"तरह-तरह की बातें हैं, मालिक। कोई कहता है कि मकानमालिक के यहाँ उस कमरे में जो औरत रहती है न, वह दरअसल पड़ोस के वकील साहब की चौथी बीवी है। कोई कहता है कि उसे वकील साहब बम्बई से भगाकर लाये थे, मगर वह मकानमालिक के यहाँ भाग आयी। और कोई कहता है कि उस पर दो जिन्न आते हैं और वह रोज आधी रात को सिंगार-पटार करके उनकी खातिरबात करती है। लोग कहते हैं, कभी-कभी वे जिन्न उसे मारते भी हैं और मालिक, मैंने भी कई बार कोड़े मारने और उसके रोने-चीखने की आवाजें सुनी हैं। मगर कुछ लोग कहते हैं कि वह एक पढ़ी-लिखी औरत है। मुसीबत में पड़कर यहाँ आयी थी। अपने

मकानमालिक और वकील साहब ने मिलकर उसे इस शर्त पर रख लिया कि पाँच साल के अंदर उसे दोनों में से किसी एक को चुन लेना होगा। कहते हैं, अब मकानमालिक की नीयत कुछ खराब हो गयी है, मगर वह इन दोनों में से किसी के पास रहना नहीं चाहती। कुछ लोग तो कहते हैं कि हमारे पहले के जितने किराएदार थे न, सबके साथ इस औरत ने भागने की कोशिश की। इसीलिए....”

उसकी बातें सुनकर मेरी साँस बंद हुई जा रही थी मेरी आँखों में वकील साहब की गुस्से से अचानक भयानक हो आयी आँखें और कानो में मकानमालिक की पास-पड़ोस के लोगों में दिलचस्पी न लेने, अपने मनको अपने वश में रखने और दूसरों के मुआमलों में रस न लेने की नसीहतें कौंध रही थीं।

मैं उठकर बैठ गया। मेरी खिड़की के सामनेवाली खिड़की खुली हुई थी, उसका पर्दा उठा हुआ था और उससे रह-रहकर जार्जेट की साड़ी का उड़ता हुआ पल्ला दीख जाता था। मुझे अपने पहले के किरायेदारों की बड़ी याद आ रही थी। मैं नौकर से अपने कमरे की खिड़की बंद कर देने के लिए कहने ही को था कि यकायक मेरी खिड़की के सामने वाली खिड़की एक अजीब भयानक और एक हद तक बदतमीज झटके के साथ बंद हो गयी और तरह-तरह की आवाजों का सिलसिला शुरू हो गया। मैं उन आवाजो का अर्थ समझते हुए बस नौकर की ओर एकटक देखता रह गया। मुझसे कहते कुछ न बन पड़ा। हालाँकि मैं उससे कहना चाहता था, उसे ढाढस बँधाना चाहता था कि डरने की कोई बात नहीं, मैं जल्द ही यह मकान छोड़ दूँगा।

●

गहरे रंगों का कंट्रास्ट

खिड़की के उस पार बहुत बड़ा मैदान है और उस बहुत बड़े मैदान के उस पार सूरज डूब रहा है। मैं दफ़्तर से लौट आकर अपने कमरे की चौहद्दी में पिंजरबद्ध पक्षी की तरह उस डूबते सूरज की चमकती हुई लाल किरणों को सतृष्ण आँखों से देख रहा हूँ। मुझे लाल रँग बहुत पसन्द है और जिस लाल रंग में चमक हो, वह तो जैसे मेरे मन को बींध जाता है।

उस बड़े से मैदान का गहरी हरीतिमा, जो दूर से नीली दिखती है, उस लाल रंग की पृष्ठभूमि में विचित्र लगती है। रंगों का यह विचित्र कंट्रास्ट देखकर मन जाने कैसा हो आया है। लगता है, किसी ने गहरे हरे रंग की चोली के कंट्रास्ट में चमकदार गहरे लाल रंग की साड़ी पहन ली है।

हवा से खुली खिड़की का एक पल्ला उढ़क गया है। मेरे सामने का दृश्य विभाजित हो गया है। आधा आकाश दिखता है, जो बहुत साफ है और जिस पर लाल रंग की बड़ी गहरी लहर दूर तक फैल गयी है। मेरा जी करता है, मैं उठकर खिड़की के उस उढ़के पल्ले को खोल दूँ। मुझसे उठा नहीं जाता। ऐसा होता है। जो मैं चाहता हूँ, कर नहीं पाता। मैं इस दृश्य को चाह कर भी इसकी सम्पूर्णता में नहीं देख सकता। अपनी यह विवशता केवल मैं समझता हूँ, और कोई नहीं समझता। मिस कुमुद हंसपाल गहरे हरे रंग की चोली के कंस्ट्रास्ट में चमकदार गहरे लाल रंग की साड़ी पहने मेरे सामने आती है, मुझे मुग्ध आँखों से देखती है, भावना के आवेश में अनजाने जाने कौन-सी रूमानी कविता गुनगुनाती है और मेरी विवशता को न समझ पाने

उस बड़े-से मैदान में सात-आठ छोटे-छोटे बच्चे रबर की एक छोटी-सी गेंद से खेल रहे हैं। सूरज डूब रहा है, लाल रंग में हल्का नीलापन भरता जा रहा है। मैं चाहता हूँ, कि कुमुद को भूल जाऊँ और उठकर खिड़की का उढ़का हुआ पल्ला खोल दूँ या दौड़कर उस मैदान में जा पहुँचूँ, जहाँ बच्चे खेल रहे हैं।

एक दिन कुमुदने मुझसे पूछा था—"आप यों अपने ही को जकड़े क्यों रहते हैं?" अजीब बात है। अब इसका कोई क्या उत्तर दे? समझाये भी कोई समझेगा? मैंने हँसने की कोशिश करते हुए कहा था—"आपको कोई भ्रम हो गया है।"

कुमुद को अपना प्रश्न विचित्र नहीं लगा था; मेरा उत्तर विचित्र लगा। उसने, अपने गहरे लाल रंग के वैनिटी बैग से एक छोटा-सा हल्के नीले रंग का रूमाल निकालकर; अपने मुँह पर झलक आयी पसीने की बूँदों को पोंछते हुए; मेरी ओर आश्चर्य की दृष्टि से देखा था; कि मैं कैसा विचित्र प्राणी हूँ और इसके पहले कि मैं कुछ कहूँ, मुझे एक विचित्र-सी मानसिक स्थिति में छोड़कर चली गयी थी।

उसका वह प्रश्न और मेरा वह उत्तर वैसे ही स्थिर है। हम रोज मिलते हैं। मैंने अक्सर उसके प्रश्न को एक भिन्न उत्तर से मेट देना चाहा है, मगर जैसे खिड़की का यह पल्ला बन्द हो गया है; और मैं चाह कर भी उसे खोल नहीं सकता, वह प्रश्न भी वैसे ही स्थिर है।

प्रश्न की यह स्थिरता मुझे नापसन्द है। कुमुद मुझे अच्छी लगती है, बहुत अच्छी लगती है। खासकर उसका गहरे हरे रंग की चोली के कंस्ट्रास्ट में चमकदार गहरे लाल रंग की साड़ी पहनना मुझे बहुत अच्छा लगता है। जब कभी वह इस वेश में मेरे निकट होती है, मैं अपने भीतर एक अनजाने उत्साह का अनुभव करता हूँ और मन चाहता है कि वह मेरे पास इसी तरह बनी रहे और उसके हल्के साँवले शरीर को ढँकने वाले गहरे रंगों का यह कंट्रास्ट यों ही सदा मेरी आँखों में घुलता रहे।

कुमुद से मेरी पहचान कब हुई थी, यह मुझे ठीक याद नहीं। इतना याद है कि मैं उसे पिछले तीन वर्षों से जानता हूँ। वह दफ्तर मे ठीक मेरे सामने बैठती है और जब कभी मेरी नजर फाइल के कागजों से उबरकर इधर-उधर भटकने लगती है, मुझे गहरे हरे रंग के कंट्रास्ट में चमकदार गहरा लाल रंग दीख जाता है। बेजरूरत मेरी अँगुलियाँ काल-बेल की ओर बढ़ती हैं। चपरासी मेरे सामने आकर खड़ा हो जाता है। मेरे मुख से अनायास ही निकल पड़ता है—"डिक्टेशन के लिए मिस हंसपाल को भेज दो।" चपरासी चला जाता है और मैं अपने द्वारा अनायास उच्चरित शब्दों के कारण किंकर्त्तव्यविमूढ़ कोई नयी फाइल खोलकर उसके कागजों में खो जाता हूँ। कुमद आती है। किसी सस्ते सेंट की बहुत तेज खुशबू आहिस्ता-आहिस्ता मेरे दिमाग पर चढ़ जाती है। वह कुछ बोलती नहीं, मेरी ओर देखती भी नहीं। निगाहें नीचे झुकाये मेरे शब्दों की प्रतीक्षा किये जाती है और ऐसे ही प्रतीक्षा करते-करते एक दिन पूछ बैठती है—"आप यों अपने ही को जकड़े क्यों रहते हैं?"

अजीब बात है। आधी खिड़की से दीख पड़ने वाले आधे आकाश में डूबते हुए सूरज की अन्तिम किरणों का लाल रंग बहुत गहरा हो गया है और अब और भी गहरा हरा दीख पड़ने वाले मैदान में रबर की छोटी गेंद से खेलने वाले बच्चों का शोरगुल करीब-करीब थम गया है।

मेरे छोटे-से मकान की एकांत स्तब्धता में केवल मेरी अपनी साँसों का स्वर सुन पड़ता है। मैं उठकर दफ़्तर जाने के कपड़े भी नहीं उतार सकता, हवा से उढ़का हुआ खिड़की का पल्ला भी नहीं खोल सकता।....मेरा बॉस कहता है, कि उसे मेरे कार्य की असाधारण गति पर कभी-कभी आश्चर्य होता है?....कभी-कभी! मुझे सदा आश्चर्य होता है।

एक दिन अचानक ऐसी ही एक शाम को कुमद ने सहसा मेरे

सम्मुख उपस्थित होकर अपने घर चलने का आग्रह किया था। बमुश्किल उठकर मैंने कुमद के उस अप्रत्याशित आगमन को देखने-समझने की कोशिश की थी। कुमद अपना आग्रह निवेदन कर मेरे सामने स्थिर खड़ी थी और उसकी बड़ी-बड़ी आँखें ऊपर छत की कड़ियों को गिनने में व्यस्त थीं। मैंने पूछना चाहा था, कि इस अचानक निमन्त्रण का अर्थ क्या है, उद्देश्य क्या है। किन्तु मुझसे पूछा नहीं गया। कुमुद ने हैंगर से उतार कर मेरा कोट मेरे सामने बढ़ाते हुए कहा था—"चलिये।" और मुझसे उस अधिकार का विरोध नहीं किया जा सका था।

छोटा-सा घर है कुमुद का। उस घर में उसके साथ उसकी एक पचास साला विधवा मौसी रहती है। कुमुद ने, अपनी मौसी से मेरा परिचय करा, मुझे अपने निजी कमरे मे ले जाकर बैठाया था। छोटा-सा कमरा है उसका, जिसमें एक ओर काठ की एक छोटी-सी चारपाई लगी है, जिस पर साफ मगर बहुत साधारण-सा बिस्तर लगा है। कोने में एक छोटी-सी टेबुल् है, जिस पर बहुत साधारण से कपड़े का एक टेबुल्-क्लाथ बिछा है। दूसरे-कोने में दो कीलें ठोककर एक पतला तार बाँध दिया गया है, जिस पर एक गहरे हरे रंग की चोली के कंट्रास्ट में चमकदार गहरे लाल रंग की साड़ी धो-चुनकर रखी है। दीवाल पर तीन-चार पुराने कैलेण्डर टँगे हैं। एक में एक बहुत बड़ा बँगला है—चमकती हुई लाल ईंटों का बँगला, जिसके सामने गहरे रंग की मखमली घासों वाला बहुत बड़ा लान है। एक मे एक प्राकृतिक दृश्य है, जिसमें शायद वसन्त के चटकीले रंगों की अवतारणा की गयी है। वे रंग बहुत धुँधले पड़ गये हैं। एक में एक छोटा-सा बच्चा है, जिसे जाने क्यों बड़े चमकदार गहरे लाल रंग से बनाया गया है और जिसे बड़े गहरे हरे रंग की जर्सी पहना दी गयी है। उस कैलेण्डर पर शायद वर्षों पुरानी जूही के फूलों की एक माला टँगी है, जिसके सारे फूल प्रायः झर चुके हैं, मगर जो अवशेष है, उस बच्चे

के गले की परिधि रचता हुआ झूल रहा है।

कुमुद एक हाथ में एक छोटी-सी तश्तरी में नास्ता और दूसरे में एक शीशे के ग्लास में पानी लेकर आयी थी और शायद बहुत देर तक मुझे अपनी ओर से विमुख तथा उन चित्रों में तल्लीन देखकर अजीब-सी मायूस आवाज में कहा था--"आप यों अपने ही को जकड़े क्यों रहते हैं?"

मुझे झटका नहीं लगा था, अजीब-सा लगा था। पीड़ा हुई थी, मानो वह आवाज मुझमें चुभ गयी हो? मन-ही-मन स्वयं को बहुत दुख गया था और किसी बड़ी तीव्र भावना से प्रेरित होकर कुमुद के अस्तित्व को, उसके आद्योपांत एक को देखना चाहा था, मगर देख नहीं पाया था। यों ही मन-ही-मन स्वयं को प्रत्यक्ष करने की कोशिश करते हुए कहा था—"आप को भ्रम हो गया है।"

इस घटना के बहुत दिनों बाद तक हमारे बीच सन्तुलन नहीं रहा। काल-बेल की ओर वैसे ही मेरी अँगुलियाँ बढ़ जाती थीं, चपरासी आ जाता था, कुमुद मेरे सामने आकर बैठ जाती थीं, गहरे हरे रंग के कंट्रास्ट में चमकदार गहरा लाल रंग अनदेखे भी मेरी आँखों में घुल जाता था। किन्तु, वह नहीं था, जो कभी था।

दफ्तर से लौट आकर अपने मकान की एकान्त स्तब्धता में मैंने मन-ही-मन उस सन्तुलन को लौटा लाने की कोशिश की थी किन्तु लौटा नहीं सका था। ऐसा होता है। जाने क्या हो जाता है, कि जो मैं सोचता हूँ, वह नहीं कर पाता, ..ठीक वैसे ही जैसे खिड़की का यह पल्ला हवा से उढ़क गया है और मैं चाह कर भी उसे खोल नहीं पाता।

आधे आकाश में अब किरणें नहीं दिखतीं, सिर्फ धुँधली रोशनी दिखती है। मुझे शाम का धुँधलका बहुत खींचता है। मेरे जी में होता है, कि मैं उठूँ, उठकर दफ़्तर जाने के ये कपड़े उतार दूँ, नौकर को पुकार कर चाय बनाने के लिए कहूँ और सामने के उस बड़े

मैदान में जाकर दौड़ूँ, दौड़ता ही रहूँ। जाने क्यों, धुँधलके में मेरा खुले मैदान में दौड़ने का बड़ा मन होता है। मगर, मैं उठ नहीं सकता। गति की आकांक्षा के ऐसे क्षणों में जाने कौन-सी विवशता मेरे व्यक्तित्व में उदित होती है और मुझे अपने आश्लेष में ग्रहण करते हुए एक अनबूझ विराम में परिवर्त्तित कर देती है। ऐसा होता है। ऐन मौके पर जो मैं चाहता हूँ, वह नहीं कर पाता।....

आज दफ्तर में डिक्टेशन देते-देते मेरी आँखें सहसा कुमुद पर जाकर टिक गयी थीं। विज्ञापन की जिस एजेन्सी में काम करता हूँ और जहाँ बैठकर मैं प्रत्येक पल लोगों के लिए सुपरिचित वस्तुओं में भी नवीन आकर्षणों की योजनाएँ बनाता रहता हूँ, वहीं कुमुद मेरे सामने गहरे हरे रंग की चोली के कंट्रास्ट में चमकदार गहरे लाल रंग की साड़ी पहने बैठी थीं। धोकर सुखा लिए बालों का मुलायम रूखापन हवा के हल्के झोंकों से मेरी आँखों के सामने उड़ रहा था। शायद, मैं जबसे देख रहा हूँ, यानी मैं जबसे कुमुद यानी मिस कुमुद हंसपाल को जानता हूँ, मैंने उसके बालों को योंही हवा के हल्के झोंकों से उड़ते देखा है। कई बार मैंने चाहा है, बड़े वेग से चाहा है, उठूँ, उसके उन उड़ते बालों को पकड़कर अंजलियों में भर लूँ और उससे कहूँ, कि सुनो, इन्हें बाँध दो। मगर मैंने यह केवल चाहा ही, किया नहीं। बस, एकटक उसकी ओर देखता रहा। कुमुद के पतले, खूबसूरत होंठों पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं और चेहरे पर बड़ा वीभत्स बुढ़ापा-जैसा कुछ दीख रहा था। मुझे याद आया, जिस दिन वह मुझे अपने घर बुला कर ले गयी थी, उस दिन उसका जन्म-दिन था और उसके निजी कमरे में बिजली के बल्ब की जगह चौबीस मोमबत्तियाँ जल रही थीं। मैंने पूछना चाहा था—यह क्यों? किंतु, जैसा कि होता है, मैं पूछ नहीं सका था। यह आज से ठीक एक साल पहले की बात है। कुमुद मेरे सामने आँखें झुकाये बैठी मेरे शब्दों की प्रतीक्षा कर रही थीं और मेरी आँखों के सामने वह कैलेण्डर झूल रहा था,

जिसमें वसन्त के चटकीले रंग धुँधले पड़ गये थे।

बड़ी देर बाद मैंने यथाशक्ति मन-ही-मन स्वयं को उत्साहित करते हुए जिज्ञासा की थी—"आज आपका जन्म-दिन है न?"

बिजली के झटके-सी किसी प्रतिक्रिया की मुझे आशा थी। किंतु, मेरी जिज्ञासा को कुमुद ने बड़े सहज भाव से स्वीकार करते हुए सिर्फ मुस्करा दिया था।

मैंने आगे फिर पूछना चाहा था, मगर जैसा कि होता है, पूछ नहीं सका था। बड़ी देर तक चुपचाप स्थिर बैठी रहने के बाद वह मेरे सामने से उठकर चली गयी थी। मेरी आँखों में इस वक्त भी उसकी वही तस्वीर तिर रही है और आधी खुली खिड़की से दीख पड़ने वाले आकाश में अँधेरा छा गया है। अपने मकान की प्रायः निर्जीव-सी स्तब्धता में मुझे अपनी ही साँसों के स्वर से भय लगने लगा है। रह-रह कर लगता है, जिस चारपाई पर लेटे-लेटे मैं आधे आकाश को देख रहा हूँ, उसे चारों ओर से घेरकर मेरी साँसों के प्रेत खड़े हो गये हैं और मुझे अपनी निराकार आकृति में समा लेना चाहते हैं। लगता है, मेरा दम घुटा जा रहा है और मैं चाहता हूँ कि इन प्रेतों के निकल जाने को मार्ग देने के लिए उठकर हवा से उढ़का हुआ वह खिड़की का पल्ला खोल दूँ, मगर....।

मैंने बहुत कोशिश की थी, कि जो तबीयत उचट गयी है और जिसमें एक अनबूझ दर्द भर गया है, उसे बहला दूँ। मगर कुमुद के उठकर चले जाने के बाद के दफ्तर के उन लगभग चार घंटों में हर कोशिश के बावजूद मैं यह नहीं कर सका। वह उठ कर मेरे सामने से चली गयी थी जरूर, मगर गहरे रंग के कंट्रास्ट का एक अजीब-सा असर छोड़ गयी थी। समझ में नहीं आता था, कि जिसका जन्म-दिन आकर लौटा जा रहा था, जिसके होठों पर झुर्रियाँ पड़ने लग गयी थीं, उसके शरीर को ढँकने वाले गहरे रंगों के कंट्रास्ट का क्या अर्थ होता है। विगत वह नहीं है, न विगत की संजोयी हुई अनुपलब्धिपूर्ण

आकांक्षा ही है। यह होता, तो वह इतना गहरा हरा और इतना चमकदार गहरा लाल नहीं होता। गहरे रंगों के कम कपड़े भी ज्यादा काम देते हैं, मगर कुमुद के कमरे मे टंगे पुराने कैलेण्डरों का संकेत कुछ और है। तब ?...

मुझसे उठ कर रोशनी जलाते भी नहीं बनता और कमरे में गहरा अँधेरा भर गया है। ऐसा होता है। मैं अक्सर रोशनी जलाना चाह-कर भी यों ही अँधेरे में पड़ा रहता हूँ। आधी खिड़की से दीख पड़ने वाला आधा आकाश अब नहीं दीखता। गहरे अँधेरे के उस पार बस चमक दीखती है। मेरे मन में रह-रह कर एक जिज्ञासा उठती है और मेरा जी करता है कि मैं अपनी इस जड़ता को त्याग कर उठूँ, कुमुद के पास जाऊँ और पूछूँ कि तुमने उस व्यक्ति से, जो सदैव अपने मन को छुपाये चलता है, मन की .किस उत्सुकता के कारण एक दिन बड़े निश्छल भाव से स्वर में कातरता भरकर और आँखों की राह मन को प्रकट करते हुए जैसे किसी भविष्य को कुरेदने के उद्देश्य से प्रश्न किया था—"आप यों अपने ही को जकड़े क्यों रहते हैं ?"

मैं चाहता हूँ, कि उठूँ और मुझे मेरा ही अदृश्य मन उत्साहित भी कर रहा है, किंतु मैं चाह कर भी उठ नहीं पा रहा हूँ, ठीक वैसे ही जैसे खिड़की का यह पल्ला हवा से उढ़क गया है और आधी खिड़की के उस पार अदृश्य आधे आकाश में दीख पड़ने वाले अँधेरे के पार की चमक मेरी आँखों में भर गयी है और मैं चाहता हूँ कि उठ कर खिड़की का वह पल्ला खोल दूँ, मगर खोल नहीं पाता।

व्यक्तित्व का अकेलापन

गदाधर राव खयालों में डूबा अपने कमरे से निकला और उसी तरह खयालों में डूबा 'लिफ्ट' में जा खड़ा हुआ। इस भीड़-भड़क्के, शोरोगुल और आपाधापी के नगर में जाने उसे एक कैसे अकेलेपन का अनुभव हो रहा था। वम्बई के प्रसिद्ध चर्चगेट स्टेशन से बैक बे रिक्लेमेशन की ओर जाने वाली भड़कीली सड़क के विशाल होटल एस्टोरिया में गुज़ारे गये पाँच दिनों का पीड़क अकेलापन उसके खयालों पर बेतरह छा गया था। इस चौमंजिले होटल की दूसरी मंजिल के अपने कमरे में बाहर की गतिमयता से लौट आकर जैसे दिन और जैसी रातें उसने गुजारी हैं वही जानता है।

सहसा लिफ्ट में उसके रू-ब-रू खड़े ऑपरेटर ने बड़े कर्कश स्वर से उसकी आत्मलीनता भंग करते हुए पूछा—"ऊपर या नीचे?"

यकायक गदाधर राव मुश्किल में पड़ गया। उसने प्रश्न को समझने के लिए उसे टालते हुए कलाई में बँधी अपनी घड़ी पर निगाह डाली और तनिक रुक कर कहा—"डाउन फ्लोर (निचली मंज़िल)!"

होटल से निकल कर सड़क पर आकर उसने एक बार फिर अपनी घड़ी पर निगाह डाली। तीन बजने में अब भी बीस मिनट की देर थी और उसे ठीक तीन बजे 'इम्पीरियल एडवरटाइजिंग एजेंसी' के दफ्तर में पहुँचना था। बीस मिनट और; वह फिर मुश्किल में पड़ गया। समय की तेज़ धार में बेतरह बहते हुए इस शहर में उसके ये बीस मिनट कैसे बीतेंगे? जहाँ जाना है, वह जगह यहाँ से पाँच मिनट से भी कम है!

गदाधर राव की समझ में कुछ न आया। वह वहीं खड़ा रह गया और भीड़ में जाने-पहचाने-से लगते अनजाने चेहरों को चुपचाप

देखता रहा। उसे अजीब-सा अनुभव हो रहा था। ये, जो उसके आत्मीय हो सकते हैं, कितने वीतराग होकर उसके अस्तित्व के प्रति अस्वीकारात्मक भाव से तटस्थ भीड़ में तिरते-डूबते जा रहे थे। उससे वहाँ और खड़ा न रहा गया और उसके पाँव खुद-ब-खुद 'डूगल हाउस' की ओर चल पड़े। उसके कन्धे से उसका प्राणप्रिय 'कैमरा' लटक रहा था और उसकी आँखों के सामने से हज़ारों-हज़ार चेहरे, किस्म-किस्म की स्थितियाँ, तरह-तरह के अनुभव भागे जा रहे थे।

आज से लगभग ढाई महीने पहले उसे अखिल भारतीय छाया-चित्र प्रतियोगिता में प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ था और उसी पुरस्कार के कारण उसे यहाँ आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इम्पीरियल एडवरटाइज़िंग एजेन्सी ने उसे चन्द विज्ञापन के योग्य मॉडलों की तस्वीर उतारने के लिए विशेष रूप से आमंत्रित किया था।

सहसा मोटर के हॉर्न से चौंक कर गदाधर राव ने सामने देखा, तो चकित रह गया। जाने कब से वह यहाँ खड़ा था और एजेन्सी के डाइरेक्टर मिस्टर विल्सन अपनी मोटर से उतर कर हल्के मुस्कराते हुए उसकी ओर धीरे-धीरे चले आ रहे थे। आज से चार दिन पहले मिस्टर विल्सन की यह मुस्कराती हुई मुद्रा बहुत अच्छी लगी थी, किन्तु आज वही उसके मन में कहीं बहुत गहरे चुभ गयी। उसने किसी तरह मुस्कराने की कोशिश करते हुए मिस्टर विल्सन की मुस्कान की स्वीकृति में अभिवादन की मुद्रा में अपना हाथ ऊपर उठा कर हवा में हिला दिया।

चौथी मंज़िल पर एजेन्सी के फ्लैट के एक खास कमरे में कुछ लोग शायद उसी की प्रतीक्षा में बैठे थे। मिस्टर विल्सन ने उसके साथ अन्दर प्रवेश करते हुए उसके नाम का कुछ अजीब-से अँग्रेजी लहजे में उच्चारण किया और वहाँ बैठे हुए लोग सहसा अभिवादन की मुद्रा में उठ कर तेज़ क़दमों से बाहर चले गये। मिस्टर विल्सन ने उसके कन्धे को हल्के छूते हुए अँग्रेजी में कहा—"आपको आज नये सिरे से

समझाना नहीं है, मिस्टर राव। बस, आप इसका ख़याल रखेंगे कि तस्वीरें अधिक-से-अधिक प्रभावोत्पादक हों। लिस्ट आपके पास है ही और प्रत्येक तस्वीर का विषय और उद्देश्य उसमें लिखा है।" और तनिक देर रुक कर उसके चेहरे को गौर से देखते हुए उन्होंने कहा— "अच्छा, तो मैं चलूँ। मेरी उपस्थिति से आपके काम में बाधा पड़ेगी। हाँ, मेरी सेक्रेटरी मिस दसूज़ा आपकी सहायता के लिए यहाँ मौजूद रहेंगी।"

कह कर मिस्टर विल्सन ने एक बार कमरे की सारी व्यवस्था को ध्यान से देखा और चले गये। वह उस कमरे में अकेला रह गया। उसने कमरे की हर चीज़ को एक बार ग़ौर से देखा और अपने कैमरे को कंधे से उतार कर हाथों में ले लिया। मगर जाने क्यों, भीतर-ही-भीतर उसे एक अजीब-सी घबराहट का अनुभव हुआ और वह कैमरे को उसी तरह हाथों में लिये चुपचाप जाने क्या सोचता रहा। सहसा मिस दसूज़ा ने कमरे में प्रवेश किया और हल्की उन्मादक मुस्कराहट के साथ घोषणा की, "आइटम नम्बर एक तैयार है, मिस्टर राव!"

गदाधर राव ने किसी तरह स्वयं को वश में करते हुए जेब से लिस्ट निकाल कर पढ़ने की कोशिश की। स्नान के बाद एक अर्द्ध-नग्न युवती अपने वक्ष पर ब्यूटी क्वीन पाउडर का प्रयोग करती है। यह कैसे होगा? उससे आगे पढ़ा-सोचा नहीं गया। स्त्री की नग्नता वह अनुत्तेजित मन से अकंपित हाथों में कैमरा लिए कैसे उतार सकेगा? उसने अनुभव किया कि कमरे के एक कोने में पड़ी बड़ी-सी ड्रेसिंग टेब्ल् के सामने उसकी ओर पीठ किये दर्पण में अपनी नग्नप्राय आकृति को देखती और स्नान-स्निग्ध वक्ष पर ब्यूटी क्वीन पाउडर का प्रयोग करती हुई युवती मानवीय नहीं है, वह बर्फ की यंत्र-निर्मित नारी-आकृति है, जिसके पास खड़े होते ही सहसा उसकी नसों में मृत्यु की अनिर्वचनीय शीतलता भर जाती है और उसके असर से वह धीरे-धीरे जम कर पत्थर की मूर्ति बन जाता है। उसे बड़ा भय मालूम हुआ

और सहसा उसके शरीर में एक झुरझुरी-सी दौड़ गयी। उसके जी में हुआ कि वह अपने कैमरे को उसी तरह हाथों में लिए जम कर पत्थर हो जाने के पहले ही खिड़की से कूद कर भाग जाए। मगर तभी मिस दसूज़ा ने एक गोरी-छरहरी भरे-पूरे अंगों वाली युवती के साथ कमरे में प्रवेश किया, और बड़े मधुर स्वर में बोलीं—"मिस्टर राव, ये हमारी ब्यूटी क्वीन हैं—मिसेज़ देसाई।" और इसके पहले कि वह मिसेज़ देसाई के नमस्कार का उचित उत्तर दे सके, मिस दसूज़ा ने मिसेज़ देसाई की ओर मुड़ते हुए कहा—"नाउ प्लीज़, वी हैव नो टाइम।"

गदाधर राव चुपचाप वैसे ही स्थिर खड़ा रहा। मिसेज़ देसाई आगे बढ़कर ठीक उसकी बायीं ओर के दरवाज़े को खोलकर उस कमरे से जुड़े हुए एक कमरे में चली गयीं। मिस दसूज़ा ने उसके कैमरे की ओर आश्चर्य से देखते हुए कहा—"अरे, मिस्टर राव, आपने अभी अपना कैमरा भी तैयार नहीं किया और मिसेज़ देसाई के नहा कर आते ही आपको तस्वीर लेनी है।"

उसने उत्तर में कुछ कहना चाहा, मगर शब्द उसके भीतर ही गूँज कर रह गये। उसकी आँखों में लगभग दो साल पहले का एक बड़ा उन्मादक दृश्य तिर रहा था। ऐसे ही एक कमरे में वह एक दिन मिस मालती वत्सलम् के प्रति अपनी प्रीति अर्पित करने के लिए खड़ा था—इसी तरह हाथों में कैमरा लिये और मिस मालती वत्सलम् उसकी उपस्थिति की ओर से अनजान, दफ्तर से लौट आकर ऐसे ही बगल के कमरे में स्नान कर एक बड़े प्रीतिमुग्ध गीत की पंक्तियाँ गुनगुनाते हुए सहसा अर्द्धनग्न अवस्था में निकल कर उसे देखकर एक अजीब-सी लाजभरी मुद्रा में ढल गई थीं और उस वक्त उसने आखें झुकाये उसे निर्जन एकान्त लाजडूबे क्षण की प्रतिष्ठा एवं रक्षा के लिए मन-ही-मन भगवान से कितनी विनती की थी।

उसने किसी तरह दो साल पहले की उस मिस मालती वत्सलम्,

किन्तु अब अपनी पत्नी के उस विगत विम्ब से टूटते मिस दसूज़ा की ओर बड़ी कातर दृष्टि से देखा और काँपते हाथों में अपना कैमरा उठा लिया। मिस दसूज़ा व्यवस्थाएँ देखने के लिए ड्रेसिंग-टेब्ल की ओर बढ़ गयीं। वह कुछ देर तक उसी तरह काँपते हाथों में कैमरा लिये खड़ा रहा, फिर किसी तरह स्वयं को संयत करते हुए भावी घटना के लिए तैयारियाँ करने लगा।

मिसेज़ देसाई कब आकर ड्रेसिंग-टेब्ल के सामने खड़ी हो गई थीं, पता नहीं। मिस दसूज़ा ने उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए उसकी अन्यमनस्कता से तनिक झुँझलाए हुए स्वर में कहा, "मिस्टर राव, मिसेज़ देसाई आपका इन्तजार कर रही हैं।"

गदाधर राव ने मिसेज़ देसाई का नाम सुनते ही घबरा कर सामने देखा और सहसा उसे लगा कि उसके शरीर का रक्त यकायक जम कर बर्फ हो गया है। मिसेज़ देसाई ने राजस्थानी शैली का सिर्फ एक लँहगा पहन रखा था और अपने एक हाथ में ब्यूटी-क्वीन पाउडर का डिब्बा लिए और दूसरे से उरोजों पर एक रोएँदार तौलिया थामे तस्वीर खिन्चवाने की मुद्रा में खड़ी थीं और उनके होंठों पर और उनकी आँखों में एक अजीब उत्तेजक वहशी मुस्कान तिर रही थी। मिस दसूज़ा ने और भी अधिक झुँझलाहटभरे स्वर में उसे सम्बोधित करते हुए कहा, "प्लीज़, मिस्टर राव, आप आकर खुद देख लीजिये कि पाउडर को ठीक कहाँ गिरना चाहिए।"

गदाधर राव ने मिस दसूज़ा की झुँझलाहटभरी आवाज़ सुनी और यंत्र-परिचालित-सा धीमे क़दमों से चल कर मिसेज़ देसाई के पास खड़ा हो गया। मिसेज़ देसाई ने कुछ अजीब-सी अदा से मुस्कराते हुए उसकी ओर देखा और उरोजों पर से फिसलते हुए तौलिए की ओर से बेपरवाह होकर मिस दसूज़ा से बातें करने लगीं।

तनिक देर और प्रतीक्षा कर मिस दसूज़ा ने फिर टोका—"क्या

बात है मिस्टर राव, आप ठीक से देखते क्यों नहीं कि तौलिए को वहीं रहना चाहिए या और नीचे?"

गदाधर राव की नज़र मिसेज़ देसाई के बदन पर तिर रही थी, मगर उसे कुछ दीख नहीं रहा था। उसने मिस दसूज़ा की ओर देखने की कोशिश करते हुए एक किनारे होकर अपना कैमरा सँभालते हुए कहा, "ठीक है। रोशनियाँ जला दीजिए।"

स्नैप लेकर गदाधर राव ने एक बार फिर मिसेज़ देसाई की ओर देखा, जो वहीं उसके सामने उसी दर्पण के सम्मुख उसकी ओर से एकदम वीतराग कपड़े पहन रही थीं और अपना कैमरा सँभाल कर दरवाज़े की ओर कदम बढ़ाते हुए मिस दसूज़ा की ओर देख कर कहा—"क्षमा कीजियेगा, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है, बाकी आइटम्स कल होंगे।" और उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना दरवाज़ा खोलकर तेज़ कदमों से बाहर निकल गया।

इधर-उधर भटकते हुए रात को क़रीब दस बजे गदाधर राव ने लौट कर जब अपने होटल के डाइनिंग हॉल में प्रवेश किया तो स्तम्भित रह गया। मिसेज़ देसाई अपने पति और साल-डेढ़ साल के बड़े खूबसूरत-से बच्चे के साथ बैठी खाना खा रही थीं और उसे प्रवेश करते हुए देख कर भी, उसे पहचान कर भी उसकी ओर से एकदम तटस्थ असम्बद्ध भाव से अपने पारिवारिक वातावरण को प्रसन्न कहकहों-खिलखिलाहटों से भरती जा रही थीं। उसका जी जाने कैसा हो आया। उसे लगा कि सहसा उसके रक्त के अणु-अणु में दो साल पहले की मिस मालती वत्सलम् के प्रति अपरिमेय घृणा भरती जा रही है और डाइनिंग हॉल में बैठे प्रत्येक पुरुष की प्यासी आँखें उसके सद्यःस्नात अर्द्धनग्न मसृण अंगों को पिये जा रही हैं और उसके प्रति उसके मन की श्रद्धा-भावना सहसा जुगुप्सा में बदली जा रही है। उससे वहाँ और ठहरा न गया। वह झटके से मुड़ा और डाइनिंग

हॉल से बाहर आ गया। नहीं, व्यक्तित्व का यह व्यावसायिक और वीतराग अकेलापन उससे झेला नहीं जायेगा। वह मालती को प्यार करता है, अपनी पत्नी को प्यार करता है, उसके प्रति उत्पन्न होने वाली यह जुगुप्सा, यह घृणा....उफ़ !

●

बिम्बों से मुक्ति

दर्पण नहीं। (बिजली की तेज़ रोशनी में अंडाकार टेबिल पर तीन कप चाय। दो औरतें, एक मर्द। औरत मुँह से कुछ नहीं कहती। आँखों से कहती है, कि यों बैठे-बैठे क्या देख-सोच रहे हो? पीलो, ख़त्म करो। वह...घुँघराले काले मर्दाना बाल—बेतरतीब। अँगुलियों से सिर के बालों को नोचने की अदा सब को नहीं आती।...मैंने बड़ा अच्छा किया, कि कुछ नहीं कहा। प्रभु, कैसे कहती, क्या कहती? मैं कौन होती हूँ किसी के वैयक्तिक प्रसंगों में अपनी टाँग अड़ाने वाली?) नहीं, दर्पण नहीं। चेहरा हसीन ही दीखा, तो क्या हुआ? मेरा मन...(मेरी अँगुलियाँ पतली हैं, नरम हैं। नखों में क्यूटेक्स अच्छा लगता है। अनामिका तनिक बेडौल हो गई है, जाने कैसे।) नहीं, मन नहीं।

शैलजा कपूर ने एक से चौंतिस तक गिना। अच्छा।

शैलजा कपूर ने कोट उतार कर टाँग दिया। कोई नहीं है। कपड़े बदले। कोई नहीं है। अपने निरावरण स्त्री-अंगों का पुरुष-भाव से स्पर्श किया। कोई नहीं है। खिड़की खुली है। बन्द कर दी। अच्छा लग रहा है। बड़ा अच्छा लगता है। आज इस वक्त बड़ा अच्छा लगता है। कोई आएगा। एक दिन कोई ज़रूर आएगा। (मैं दूर चली गई होऊँगी—बहुत दूर। एक—दो—तीन—चार—चौंतीस—चालीस—पचास—साठ—सौ...छूनेवाला मुझे छू न सकेगा। तब, क्यों कोई छूना चाहेगा?)

शैलजा कपूर बुदबुदायीं—"ऐंड आई वॉज़ टॉरमेंटेड बिहाइण्ड द करटेन। (गोपा के ड्रॉइंग-रूम का लाल रंग का परदा बड़ा सुन्दर लगता है। उस पर सफेद चमकीले रेशम से बनाए हुए छतनार

कैक्टस।....तुमने मुझे क्यों देखा इस तरह? नहीं। यू नो माइन, ऐंड आई नो योर्स। इट इज़ बेटर नॉट टु मेडेल विध।...आई शेल थैंक यू फॉर...नहीं।...मेरे माँ-बाप ने मेरा नाम शैलजा क्यों रखा? तपस्या कर रही हूँ। उ—मा—)

इतनी रात गए तक सिनेमा के गंदे और उत्तेजक गीत बजते रहते हैं। तबीयत नहीं लगती। शैलजा कपूर ने अपने बदन को एक हल्का-सा झटका दिया। 'जैसी हूँ, ठीक हूँ।' शायद मा सो गई है। सुलोचना के कमरे से भी आहट नहीं आती। केवल महाराजिन जग रही है। बदमाश औरत है। इसी के उड़ाए क़िस्से शहर में चलते हैं। 'मैं किसी से डरती हूँ? आश्रिता हूँ क्या? पढ़ी-लिखी हूँ। नौकरी करती हूँ। अच्छी तनख्वाह पाती हूँ। घर का सारा खर्च चलाती हूँ। मेरा जी चाहेगा, तो मैं आधी रात को लौटूँगी, या नहीं लौटूँगी। किसी को क्या?'

शैलजा कपूर ने अपने गोरे मुलायम पाँव में मखमली चप्पल डालते हुए आवाज़ दी—"माँ!....ओ माँ!"

"आ गई, दीदी," सुलोचना के कमरे से आवाज़ आयी।

सुलोचना ने आकर कहा—"मा पड़ोस के बनर्जी साहब के यहाँ गई हैं। उनकी बीबी के बच्चा होनेवाला है न। शायद देर से लौटेंगी।"

शैलजा कपूर भीतर से चिढ़ी बैठी थीं। गुस्सा आ गया। बोलीं—"यह सारे पड़ोस की औरतों की कोखें सँभालने का जिम्मा माँ ने ही ले लिया है क्या?"

वे भीतर से चिढ़ी बैठी थीं। गुस्सा आ गया। कह गईं। किन्तु कह कर अपने अकारण आवेश को समझते हुए सुलोचना की ओर देखा, और खिलखिला कर हँस पड़ी। सवाल किया—"तुमने खा लिया?"

"नहीं, तुम्हारा ही इंतज़ार कर रही थी," सुलोचना ने दीदी के

उस क्रोध और इस खिलखिलाहट के बीच एक अनबूझ उलझन का अनुभव करते हुए कहा। कहकर, सुलोचना ने गौर से अपनी दीदी को देखा। जिस रात क्लब या पार्टी, सखी या मित्र के घर से लौटने में ज्यादा देर हो जाती है, दीदी इसी तरह उसे अपने गुस्से और खिल-खिलाहट के बीच उलझा देती हैं। कितने घने काले आकुंचित बाल हैं दीदी के। उसने प्यार से अपनी दीदी को संबोधित करते हुए पूछा—"यहीं खाना मँगा लूँ, दीदी ?"

शैलजा जाने क्या सोच रही थीं। खयालों को अलग कर के, बोलीं—"नहीं। चलो, महराजिन को तकलीफ होगी। वहीं खा लेंगे।"

शैलजा ने फिर पाँवों में चप्पल डाली, और उठ खड़ी हुई।

सुलोचना महराजिन को खाना परोसने के लिए आवाज़ देने चली गई।

सुलोचना शैलजा से पंद्रह साल छोटी है। समाजशास्त्र लेकर एम० ए० प्रीवियस में है। गोरा छरहरा शरीर, बड़ी-बड़ी आँखें अजंता शैली की। शैलजा को उसकी बड़ी-बड़ी, नुकीली, तंद्रिल-सी आँखें बहुत पसन्द हैं।

शैलजा ने थाली में ही हाथ धोते हुए कहा—"बड़ी ठंढक है न ?" (तू सजग रह। यह सर्दी न झेलनी पड़े।)

सुलोचना ने उठते हुए कहा—"हाँ, कैसी हवा चल रही है कई दिनों से। लौटते हुए तो तुम्हें बहुत सर्दी लगी होगी ?"

(नहीं, सर्दी नहीं लगी। अच्छा लगा; बहुत अच्छा लगा। आज लौटते हुए बड़ा अच्छा लगा।)

शैलजा ने उठते हुए, उत्तर देने के लिए सुलोचना की ओर देखा, तो महराजिन पर नज़र पड़ गई। महराजिन उन्हें ही एकटक देख रही थी। और उन्होंने अनुभव किया, कि महराजिन के होंठों पर हल्की व्यंग्यात्मक मुस्कराहट का बड़ा वेधक कोण बना था।

कितनी बार उन्होंने माँ से कहा, कि यह महराजिन उन्हें सख्त नापसंद है। यह उनके सामने रहती है; तो उनका व्यक्तित्व खतरे में होता है। इसके असंख्य आशिक हैं। (कम्बख्त, जान-बूझ कर अपने ब्लाउज के ऊपरवाले बटन तोड़ देती है।) इसका क्या भरोसा? कब यह किस संकट में डाल देगी, कौन जानता है? और इसी के चलाये क़िस्से उनके नाम से जुड़े शहर में चलते हैं। वे निकलती हैं, तो लोग उन्हें बड़ी विचित्र दृष्टि से देखते हैं। (ये क़िस्से उतने सच नहीं हैं। मगर काश, होते!) (सुलोचना—दीदी, कौन कहेगा, कि तुम मुझसे पन्द्रह साल बड़ी हो? तुम्हारे ये पुष्ट....) (महराजिन—मैं सब समझती हूँ। मुझे देखकर तुम्हें गुस्सा आता है। मैं भी जानती हूँ, महिपाल वर्मा की बायीं जाँघ पर बहुत बड़ा लाल लच्छन है।) (शैलजा कपूर—महिपाल वर्मा ने केवल मुझे छुआ था। मैंने देखा, कि उसकी बायीं जाँघ पर बहुत बड़ा लच्छन है। जीतेन्द्र भादुरी जैसा साहस महिपाल वर्मा में नहीं है। वह एक पेग ह्विस्की नहीं पचा सकता। आवेश में आ जाता है।) (सुलोचना—मैं क्या करूँ, दीदी? मैं क्या करूँ?) (महराजिन—मैं सब समझती हूँ। तुम महिपाल वर्मा के यहाँ गई थीं। तुम्हारी छाती बहुत तेज़ी से उठ-गिर रही है। मेरी छाती इसी तरह तेजी से उठ-गिर रही थी, जब महिपाल वर्मा ने मुझे जकड़ लिया था। उसके मुँह से बहुत कड़ी सिगरेट की बू आती है।) (सुलोचना—दीदी, तुम सह लेती हो, निभा लेती हो। मुझसे नहीं सहा जाएगा, नहीं निभेगा।)

शैलजा ने पाँव बढ़ाते हुए कहा—"चलो।"

सुलोचना अपने कमरे में चली गई। वे आकर, पलँग पर लिहाफ से शरीर ढँक कर, अधलेटी-सी पड़ी-पड़ी, एक किताब पढ़ने की कोशिश करने लगीं।

रात काफी हो चुकी थी, और सोना जरूरी था। उन्होंने किताब

रख दी, और पलकें मूँद लीं। (गोपा महिपाल वर्मा की बाँहों में सिकुड़ी-सिमटी सो रही है। उफ़!)

दरवाजे की कुंडी खटखटायी जा रही थी। (महिपाल वर्मा ने अन्दर से चिटकिनी चढ़ा दी थी। वह दरवाज़े से लग कर खड़ा था। उसकी बायीं जाँघ पर का बड़ा-सा लच्छन चमक रहा था। शैलजा कपूर पलँग पर उसकी प्रतीक्षा कर रही थीं।....वह बढ़ता है। वह निकट आता है। वह बहुत निकट आ जाता है। उसके मुँह से बहुत कड़ी सिगरेट की बू आती है। कड़ी सिगरेट की बू अच्छी लगती है। कड़ी सिगरेट की बू बहुत अच्छी लगती है। वे प्रतीक्षा कर रही हैं। महिपाल वर्मा और निकट आ जाता है—और निकट आ जाता है।....महिपाल वर्मा उसका स्पर्श करता है, छोड़ देता है, और सहसा पलंग की पाटी पर जोर-ज़ोर से अपना सिर पटकने लगता है। वह रोकना चाहती है। वह प्रतीक्षा कर रही है। वह रोक नहीं पाती।.... उसके अन्दर जाने कैसा एक अपरिचित-सा दर्द हो रहा है।....महिपाल वर्मा का सिर फट जाता है, और उससे रक्त बह निकलता है।....उसके अन्दर जाने कैसा एक अपरिचित-सा दर्द हो रहा है।....महराजिन अपने ब्लाउज के ऊपरवाले बटन तोड़ देती है, और बाहर से ज़ोर-ज़ोर से जाने किसे पुकारने लगती है।)

शैलजा चौंक कर उठ बैठीं। मा दरवाजे की कुंडी खटखटा रही थीं, और जोर-जोर से उसका नाम पुकार रही थीं।

तो बनर्जी साहब की दस बच्चोंवाली बीवी के बच्चा हो गया।

"आयी, मा!" शैलजा कपूर ने बदन पर से लिहाफ हटाकर, पलँग पर से उतरते हुए कहा।

तेज़ क़दमों से चलते हुए जाकर उन्होंने दरवाज़ा खोल दिया। मा शॉल ओढ़े रहने पर भी सर्दी से काँप रही थीं, और बेहद थकी लग रही थीं।

"बाप रे ! थक गई दरवाजा पीटते-पीटते !" मा ने अन्दर आते हुए कहा—"जाने कैसी नींद है तुम दोनो बहनों की ?"

यह उलाहना शैलजा को बहुत अच्छा लगा। उन्होंने प्यार से मा की ओर देखते हुए कहा—"पहली नींद थी न, मा, इसीलिए।"

मा ने सुन कर कुछ कहा नहीं। धीरे से मुस्कराई, और अपने कमरे में चली गईं। शैलजा क्षण भर खड़ी सोचती रहीं, फिर अपने कमरे में लौट आयीं। पलँग की पाटी पर बैठते हुए लक्ष्य किया—सोते समय वे रोशनी गुल करना भूल गई थीं। उन्होंने उठकर रोशनी गुल कर दी, और लौट आकर लेट गई थीं। (एक लड़का—उसका नाम रखूँगी शिशिर। एक लड़की—उसका नाम रखूँगी इड़ा। एक.... नहीं, बस।) (महराजिन—गोपा महिपाल वर्मा की बाँहों में....अजीब सपना था।)

दिन चढ़े मा के तीसरी बार जगाने पर शैलजा कपूर उठीं। रात का टेन्शन प्रायः बीत चुका था, और मन भीतर से बहुत हल्का हो गया था। किसी-किसी दिन ग़ज़ब हो जाता है।

तैयार होते-होते ग्यारह बज गए। गनीमत है कि छुट्टी का दिन है—रविवार का दिन। (ऐंड गॉड ब्लेस्ड द सेबेन्थ डे, ऐंड सैंकटिफाइड इट, बेकॉज़ दैट इन इट ही हैड रेस्टेड फ्राम ऑल हिज़ वर्क ह्विच गॉड क्रियेटेड ऐंड मेड।) उन्होंने नित्य-कर्म से निवृत्त होकर, दर्पण के सामने बैठकर, देर तक मेकअप किया। बालों को एक नयी अदा दी। और बड़ी देर तक वे अपनी छवि से जुड़ी बैठी रहीं। अच्छा लगता है—दर्पण में यों अपने को देखना बड़ा अच्छा लगता है।

सज-सँवर कर वे निकलीं, और निरुद्देश्य यात्रा करते हुए, गोपा के घर जा पहुँचीं। बरामदे में ही उन्होंने ड्राइंग-रूम से आ रहे क़हक़हों को सुना, और उनमें से कई स्वरों को चीन्हते हुए क्षण भर रुकीं। फिर परदा उठाकर, सवाल किया—"आ सकती हूँ न ?"

"अरे, आओ-आओ," गोपा ने उठकर जीतेन्द्र भादुरी की ओर संकेत करते हुए कहा—"अभी ये तुम्हारी ही बातें कर रहे थे। सच, बड़ी उम्र है तुम्हारी।"

शैलजा कपूर ने मुस्कराते हुए सब की ओर बारी-बारी से देखा, और जाकर भादुरी साहब के बगल में बैठ गईं।

"क्यों, आज ब्रिज नहीं होगा क्या?" शैलजा ने महिपाल वर्मा की ओर देखते हुए सवाल किया।

"वाह! आप आ गई हैं, और ब्रिज नहीं होगा?" महिपाल वर्मा ने ग़ौर से उनकी ओर देखते हुए उत्तर दिया, फिर तनिक ठहर कर, भादुरी साहब को छेड़ते हुए सवाल किया—"क्यों?"

भादुरी साहब अपने सामने बैठे डॉ॰ प्रतिपाल वर्मा से कुछ बातें कर रहे थे। बातों की कड़ी बीच ही में तोड़ते हुए बोले—"होगा क्यों नहीं? जरूर होगा। लेकिन पहले इनका परिचय तो दे दें।"

यह तो शैलजा कपूर ने देखा ही नहीं था। उन्होंने उत्सुक होकर डॉ॰ प्रतिपाल वर्मा की ओर देखा, जिनकी बड़ी-बड़ी काव्यात्मक आँखें उन्हीं पर टिकी थीं। (शैलजा कपूर—समवयस्क है।....नहीं; छोटा ही है। मगर बहुत मैनली।) (प्रतिपाल वर्मा—कुछ ज्यादा की लगती हैं। मगर....आजकल यह सब कहना कठिन है। कैसा रूप—)

शैलजा कपूर ने बड़ी अदा से अपनी आँखें हटाकर; गोपा के चेहरे पर टिका दीं। गोपा ने कहा—"अरे, हाँ, शैलजा, मैं तो भूल ही गई थी। ये डॉ॰ प्रतिपाल वर्मा हैं, महिपाल के कज़िन। एक सप्ताह हुआ इंगलैंड से अँग्रेजी में पी॰-एच॰ डी॰ कर के लौटे हैं। शायद तुम्हारी युनिवर्सिटी ज्वाइन करेंगे। ऑफर है।"

शैलजा कपूर ने शिष्टाचार निभाया।

गोपा ने डॉ॰ प्रतिपाल वर्मा को लक्ष्य करते हुए कहा—"और

डॉ० वर्मा, ये मिस शैलजा कपूर हैं। यहीं यूनिवर्सिटी में अँग्रेजी में लेक्चरर हैं।"

डॉ० प्रतिपाल वर्मा ने शिष्टाचार निभाया। फिर तनिक रुक कर, उनकी ओर देखते हुए, कहा—"आप से मिलकर बड़ी खुशी हुई। सच।"

शैलजा कपूर हल्के से मुस्करायीं। लो-नेक ब्लाउज के किनारे-किनारे गर्दन की उभरी हड्डियों का स्पर्श करते हुए, उन्होंने भादुरी साहब की ओर देखा। भादुरी साहब विस्मित आँखों से उन्हें ही देख रहे थे। (तुम्हें मैंने पहले भी देखा है। बहुत निकट से देखा है। तुम्हारे अस्तित्व के अणु-अणु से परिचित हूँ। किन्तु आज का यह अप्रत्याशित रूप—) शैलजा कपूर ने अपनी आँखें हटाते हुए (नहीं, मि० भादुरी, अब संभव नहीं), गोपा की ओर देखा। महिपाल वर्मा से धीमे स्वर में जाने क्या कह रही थी।

शैलजा कपूर ने तनिक अस्तव्यस्त होते हुए महिपाल वर्मा से कहा—"मि० वर्मा, पत्ते बाँटिए न।"

खेल में शैलजा कपूर की तबीयत नहीं लगी। मि० भादुरी ने कई बार टोका। डॉ० प्रतिपाल वर्मा दर्शक होकर बैठे थे बिलकुल करीब, और बीच-बीच में सजेशन्स भी देते जाते थे। शैलजा कपूर को अच्छा लग रहा था। (बिजली की तेज रोशनी में अंडाकार टेबिल पर तीन कप चाय, दो औरतें, एक मर्द) (गोपा—'हाँ, आप ठीक कहते हैं, वर्मा साहब। जीवन में एक दिन ऐसा आता है, जब व्यक्ति एकांत से ऊब उठता है।' महिपाल वर्मा—'ऊब ही नहीं, घुटन का भी अनुभव होता है।' मैं—'सच?' गोपा—'मैं शायद संभ्रांत समाज की सीमा से बाहर जा रही हूँ, मगर मैंने कभी इस एकांत की प्रक्रिया में एक विचित्र प्रकार की अश्लीलता का अनुभव किया है।')

(गोपा अन्दर चली गई। महिपाल वर्मा ने फिर कार को बैक

किया। कार महिपाल वर्मा के फ्लैट के सामने आकर रुकी। छोटा-सा सजा-सजाया ड्राइंग-रूम है। छोटा-सा सजा-सजाया बेड-रूम है। महिपाल वर्मा ने ह्विस्की की नई बोतल खोली। पी। मैंने भी पी। महिपाल वर्मा ने कपड़े उतार दिए, और निकर पहने हुए बहुत निकट आ गए।....मन में घृणा भर गई।....मैंने कहा, कि वह और निकट आ जाए। उसकी बायीं जाँघ पर का लच्छन चमक रहा है।.... वह फिर पीता है।....मन में घृणा भर गई।....मैं चाहती हूँ, कि शीघ्र ही वह और निकट आ जाए।....कायर!....वह फिर पीता है। निकट आते-आते रुक जाता है। मुझको गुस्सा आ जाता है।....मन में घृणा भर गई।....मैं उठती हूँ। वह वैसे ही विवर्ण खड़ा है। मैंने जानबूझ कर कंधे से साड़ी का पल्ला गिरा दिया है। मैं साड़ी सँभालती हूँ, और चली आती हूँ।) (गोपा तुम्हें कैसे सहती है? उफ़!....मैं जानती हूँ, लेकिन...तुमने मुझे इस तरह क्यों देखा?) (भादुरी साहब ने मेरा स्पर्श किया, मुझे आविष्ट किया, सिंचित किया, और उस घटना को भूल गए। मैं भी भूल गई।....लेकिन, तुम—कायर।....व्यर्थ।.... लेकिन तुमने मुझे क्यों देखा इस तरह?)

शैलजा कपूर ने अपने शरीर को एक हल्का-सा झटका दिया। (मैं इस पचड़े में नहीं पड़ूँगी—कभी नहीं।)

मि० भादुरी ने फिर ताश के पत्ते बाँट दिए थे। शैलजा कपूर के खुले कंधे को डॉ० प्रतिपाल वर्मा की गर्म साँसें गुदगुदा रही थीं। (देख रहा होगा।....उफ़!) शैलजा कपूर ने तनिक बेचैन होकर उठते हुए कहा—"बस, अब नहीं। अब मैं जाऊँगी।"

गोपा ने टोका—"अरे, वाह! इतनी जल्दी भी क्या है? एकाध बाजी और हो जाए। चाय पी लो। फिर चली जाना।"

महिपाल वर्मा और भादुरी साहब ने भी गोपा के कथन का समर्थन किया।

किन्तु शैलजा कपूर रुकीं नहीं, चल पड़ीं।

सुलोचना बाहर बराम्दे में बैठी कोई पत्रिका पढ़ रही थी। दीदी को देखकर आश्चर्य हुआ। उसने उठते हुए, जिज्ञासा की—"आज इतनी जल्दी लौट आयीं, दीदी? ब्रिज नहीं जमा क्या?"

शैलजा कपूर ने मुस्कराने की कोशिश की। बोलीं—"नहीं, री, ऐसी कोई बात नहीं। अपना ही जी उच्चट गया।"

वे रुकीं नहीं। तुरंत अपने कमरे की दिशा में बढ़ गईं।

सुलोचना की बड़ी-बड़ी तंद्रिल-सी उन्मादक आँखों में कभी-कभी पीड़ित करनेवाली पुरुषोत्सुक मदालसता दीख पड़ती है।

शैलजा कपूर ने कमरे में जाकर दरवाजा बंद कर लिया। सुलोचना ने सुना। सुन कर रह गई। ऐसे अवसर पर वह दीदी के पास जाना पसन्द नहीं करती। जाने क्यों, उसे बड़ा भय लगता है। दीदी की आँखों की भाषा पढ़ी नहीं जाती, और उनके चेहरे पर जाने कैसे वहशी खयालात तिरते दीखते हैं। उसने पत्रिका पर फिर अपनी आँखें टिका दीं। (कभी-कभी दीदी बहुत अश्लील दीखती हैं—महराजिन के सम्बन्ध के उत्तेजक किस्सों से भी ज्यादा अश्लील।)

शैलजा कपूर ने एक-एक कर अपने सारे कपड़े उतार दिए। खुले कधो से डॉ० वर्मा की साँसों की गर्मी भर गई थी। ताप फैलता जा रहा था। उन्होंने अपने निरावरण शरीर का स्पर्श किया। (डॉ० वर्मा झुका हुआ था। उसने देखा होगा।) वे पलँग पर लेट गईं। सर्दी नहीं लगती, ताप का अनुभव होता है। (महराजिन कैसे—)। उन्होंने बड़ी कातर होकर अपने उदर को छुआ। (चौंतीस।...बनर्जी साहब की बीवी की पहली लड़की अठारह-उन्नीस साल की है ब्याहता। शायद, अब पुत्रवती होगी।) मा! ओ मा!...(मा यह सब कैसे करती हैं? घिन नहीं आती?) उन्होंने फिर कातर होकर उदर का स्पर्श किया। (मा मुझे भी एटेंड करेंगी। लेकिन लाज लगती है।)

वे उठ कर बैठ गईं। संयत होकर कपड़े पहने। मा कहाँ हैं?

एक बार अपने उदर को झुक कर देखा। (डॉ० वर्मा ने देखा था।) (उस वक्त कैसा लगेगा ?) दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आयीं। बाहर बराम्दे में आकर देखा—सुलोचना अब भी पढ़ रही थी। पूछा —"मा कहाँ हैं, री?"

"अन्दर होंगी शायद," सुलोचना ने पत्रिका से आँखें हटाए बग़ैर ही कहा।

वे क्षण भर खड़ी-खड़ी सुलोचना को देखती रहीं। (इसके बच्चे बहुत खूबसूरत होंगे।) फिर अन्दर मा को ढूँढ़ने चली गईं।

रसोईघर में महाराजिन बर्त्तनों को आले पर सजा रही थी। और एक मैली फटी साड़ी के सिवा उसके बदन पर कोई दूसरा वस्त्र न था।

शैलजा कपूर का जी जाने कैसा हो आया। वे पराजित-सी अनुभव करते हुए, मा से मिले बगैर अपने कमरे में लौट आयीं। अँधेरा हो आया था, और मन में एक अव्याख्येय अभाव भर गया था। वे हताश-सी फिर पलँग पर लेट गईं।

थोड़ी देर बाद संयत हुईं, तो तबीयत बहलाने के लिए बातें करने के इरादे से उन्होंने सुलोचना को आवाज़ दी। महराजिन ने उत्तर दिया, और कमरे में आकर सूचना दी, कि अभी-अभी सुलोचना अपनी चंद सहेलियों के साथ कहीं बाहर चली गई।

एकाएक शैलजा कपूर का जी भीतर से भर आया। उन्होंने अनुभव किया, कि उनके मन की गहराइयों में कोई बड़े कातर स्वर में विलाप कर रहा है। उन्होंने आँखों में उमड़ पड़ने वाले आँसुओं को महराजिन से छिपाने के लिए, पलकें मूँदते हुए, करवट बदल दी।

महराजिन ने यह देखा। वह गई नहीं। इस विचित्रता को बूझने की चेष्टा करती रही। उसे देखते ही शैलजा के कंठ से सिसकियों की दबाई हुई आवाज आने लगी।

महराजिन दूर से यह देखती रही। यह अकल्पनीय दृश्य उसे

विस्मित कर रहा था। भीतर से उनके प्रति पूरे वेग से सहानुभूतिमय होकर भी, संवेदित होकर भी, वह वहीं स्थिर खड़ी रही। पता नहीं, वे उसे कैसे सहन करेंगी। (मैं समझती तो हूँ, किन्तु मैं कहूँ भी, तो सुनोगी ?)

शैलजा कपूर ने महराजिन की इस उपस्थिति का अनुभव किया, करती रहीं, और भीतर-ही भीतर उस उपस्थिति को स्वीकार करते हुए, और विह्वल होती गईं।

अँधेरा काफ़ी गहरा हो चुका था। शायद माजी बनर्जी साहब के घर चली गई थीं। सुलोचना अपनी सहेलियों के साथ घूमने चली गई थी। महराजिन ने भीतर से मातृत्व ममत्व का अनुभव करते हुए आगे बढ़कर रोशनी जला दी, और शैलजा कपूर के निकट पहली बार पलँग पर बैठते हुए, उनके अस्तव्यस्त कुंतल को स्नेह-कातर होकर, अँगुलियों में लपेटते हुए कहा—"रोती हो दीदी ? छिः !"

महराजिन के मैले वस्त्रों से रसोईघर की-सी एक गंध आ रही थी—तेल और मसालों की मिली-जुली, सिली-सिली-सी गंध। शैलजा कपूर के कातर मन को महराजिन के द्वारा 'दीदी' संबोधित किए जाने से एक झटका-सा लगा। उन्होंने घृणा से भरकर धक्के देकर हटा देने के लिए उसकी ओर झुलस देने वाली आँखों से देखा, और उसके ब्लाउज के ऊपर के टूटे बटन और उसके भीतर से दीख रही मांसलता से अनायास ही सवेग आन्दोलित होकर पुनः यथावत् हो गईं। उन्होंने मन की घृणा को वश में करते हुए आँखें मूँद लीं, और महराजिन को मनचाहा करने दिया।

महाराजिन ने शैलजा कपूर की वह दृष्टि झेल ली, और वैसे ही उनकी सांत्वना के लिए उन्हें सहलाती रही। सिर से कंधों, कंधों से वक्ष पर (आह !), वक्ष से उदर पर (मा !), उदर से जाँघों पर (उफ़ ! उफ़ !) उसकी अँगुलियाँ तिरती गईं। और उनके मन में एक अव्याख्येय उत्तेजना के साथ-साथ शांति भरती गई। (मैं महराजिन क्यों नहीं हो

सकती—क्यों नहीं हो सकती?)....(महिपाल वर्मा क्यों मेरे निकट, मेरे बहुत निकट अपनी सारी अश्लीलता के साथ नहीं आ सकता?).... (क्यों?)....(डॉ० प्रतिपाल वर्मा—)...(क्यों नहीं आ सकता?)

नींद आ गई। थक कर शैलजा कपूर शिशुवत् सो गईं। और महराजिन मातृवत् उन्हें सहलाती रही, उनमें सांत्वना-शांति भरती रही।

दस-ग्यारह बजे के लगभग मा ने बनर्जी साहब के यहाँ से लौट आकर, शैलजा कपूर को जगाया। महराजिन संकेत से उनके अनायास रोदन की कथा कह चुकी थी। उन्होंने आँखों में अतिशय ममत्व भरकर, उनकी ओर देखते हुए, जिज्ञासा की—"क्या बात है? आज खाए-पिएगी नहीं क्या?"

शैलजा कपूर की नींद टूट चुकी थी। मन भीतर से इतना हल्का हो आया था, और वे स्वयं को इतनी सहज लग रही थीं, कि सहसा उठने को जी नहीं चाहा। उन्होंने फिर आँखें बंद करते हुए कहा—"नहीं, मा! खाने को जी नहीं करता।"

मा ने झिड़कते हुए कहा—"वाह! खाने को जी कैसे नहीं करेगा? दिन को भी कहाँ खाया था?" फिर तनिक रुक कर, बड़े प्यार से उन्हें स्पर्श करते हुए कहा—"नहीं, ऐसे कैसे चलेगा? सुलोचना बैठी इंतजार कर रही है। थोड़ा-सा ही सही।"

मा के इस स्नेह-गद्‌गद् आग्रह का विरोध नहीं किया जा सका। वे उठ बैठीं। बोलीं—"चलो, मा। आती हूँ—अभी, तुरंत।"

मा उन्हें जानती है। चली गईं। वे क्षण भर चुपचाप बैठी सोचती रहीं। कभी-कभी गजब हो जाता है। उन्होंने अपने अस्तव्यस्त वस्त्रों को सँभाला, और उठ खड़ी हुईं।

सुलोचना के निकट आकर बैठते हुए, थाली सामने सरका कर, उन्होंने जिज्ञासा की—"कहाँ चली गई थी, री?"

सुलोचना ने निवाला मुँह में डालते हुए, उनकी ओर देखा।

विस्मित रह गई। दीदी तो आज बिलकुल अपरिचित-सी लगती हैं। उदासी के भीतर से झाँकते उनके आश्वस्त मुख को एकटक देखते हुए, उसने कहा—"निकली तो थी घूमने, मगर रास्ते ही में गोपा दीदी मिल गईं।"

"तू गोपा के घर गई थी?" शैलजा कपूर ने अपनी थाली पर नजर टिकाए हुए, पूछा। (तूने डॉ॰ प्रतिपाल वर्मा को देखा था? तुझे वह कैसा लगा?)

"हाँ," सुलोचना ने कहा—"कोई डॉ॰ वर्मा भी थे उनके साथ।"

शैलजा कपूर को स्वयं पर आश्चर्य हुआ। डॉ॰ वर्मा की चर्चा से वे सम्मोहित नहीं हुईं। महराजिन ने उनकी थाली में रोटी डालते हुए, जिज्ञासा की—"एक और दूँ?"

"नहीं, रहने दो।" शैलजा ने स्वयं अपने स्वर की कोमलता को लक्ष्य किया।

सुलोचना ने फिर विस्मय से भरकर उनकी ओर देखा। इतना कोमल स्वर! दीदी तो आज बिलकुल अपरिचित-सी लगती हैं।

भोजन से निबट कर, शैलजा अपने कमरे में लौट आयीं। लेटी ही थीं, कि महराजिन ने दूध का गिलास लेकर कमरे में प्रवेश किया, और टेबिल पर यथास्थान रखकर, लौट चली।

उन्होंने उठकर बैठते हुए पुकारा—"सुनो।"

महराजिन ने तनिक निकट आकर, बड़े प्यार से पूछा—"क्या है, दीदी?"

"कुछ खास नहीं। यों ही," उन्होंने एकटक उसकी ओर देखते हुए कहा—"यों ही बातें करने के लिए पुकारा मैंने।...सोने जा रही थीं न?"

"हाँ," महराजिन ने कहा—"मगर अब जरा बाद में ही सोऊँगी।"

शैलजा कपूर ने दूध पिया, और फिर लेट गईं। महराजिन को इशारे से और पास बुलाते हुए कहा—"यहाँ—यहाँ बैठो—मेरे पास।"

महराजिन क्षण भर उनके निकट जाकर खड़ी रही। फिर पलंग पर उनकी बग़ल में बैठ गई। वे आँखें मूँदे पड़ी रहीं। महराजिन चुपचाप बैठी रही। उसकी समझ में नहीं आ रहा था, कि वह कैसे बातों का सिलसिला शुरू करे। उसने लिहाफ को उनकी कमर तक खींच कर ओढ़ाते हुए उनकी ओर गौर से देखा, और आहिस्ता-आहिस्ता उनके सिर के बालों में अँगुलियाँ फेरते हुए पूछा—"नींद आ रही है, दीदी? रोशनी गुल कर दूँ?"

शैलजा कपूर ने आँखें खोलकर, एकटक उसे देखते हुए कहा—"नहीं, नींद नहीं आ रही है।.... रोशनी गुल कर दो।"

महराजिन ने उठकर रोशनी गुल कर दी, और आकर फिर पलँग पर उनकी बगल में बैठ गई। वे चित लेटी हुई थीं, और अँधेरे में ही ऊपर की ओर जाने क्या देख रही थीं।

महराजिन ने बड़े प्यार से उन्हें छूते हुए कहा—"अब कैसी तबीयत है, दीदी?"

"ठीक हूँ," उन्होंने कहा, और आगे कुछ कहने ही जा रही थीं, कि उन्होंने अनुभव किया कि महराजिन की ठंढी रूखी अँगुलियाँ सिर के बालों से उनके वक्ष पर उतर आयी थीं। वे सहसा चुप रह गईं। (कितनी पुरुष-सदृश अँगुलियाँ हैं!) महराजिन की अँगुलियाँ वक्ष से उतर कर उदर की ओर बढ़ रही थीं। अग्रसर हो रही अँगुलियों की यह गति सहसा उनके लिए असह्य हो आयी। उन्होंने वहीं उदर पर अपने हाथ से उन अँगुलियों की गति को रोकते हुए कहा—"उफ़!"

महराजिन जाने क्या सोच रही थी। इस 'उफ़' और उनके हाथ के सशक्त स्पर्श से चौंक कर उसने पूछा—"क्या हुआ, दीदी?

शैलजा कपूर ने इस प्रश्न को सुना। उत्तर देने को हुई, और एकाएक भीतर से बहुत कातर हो आकर तनिक उठीं, और महराजिन की गोद में सिर रख कर समर्पित हो गईं।

महाराजिन विस्मित-सी बैठी रही, उनके सिर को प्यार से थपथपाती रही। वे उसकी गोद में वैसे ही सिर छिपाए पड़ी रहीं। तनिक देर बाद, फिर अपने स्थान पर लेटते हुए, शैलजा कपूर ने बड़े शांत स्वर में कहा—"एक बात पूछूँ?....बुरा तो नहीं मानोगी न?"

"पूछो न, दीदी। बुरा क्यों मानूँगी भला?"—महराजिन ने उनके स्वर में सम्पृक्ति की अनुभूति करते हुए कहा।

वे क्षण भर चुप रहीं। एकटक महराजिन को देखती रहीं। फिर काँपते स्वर में जिज्ञासा की—"तुम्हें कभी बच्चा हुआ है?"

महराजिन इस प्रश्न से ठगी-सी रह गई। इस प्रश्न का उद्देश्य और उत्तर उसकी समझ में नहीं आ रहा था। उसकी खामोशी से विकल होते हुए, उन्होंने और काँपते स्वर में कहा—"बोलो न, मुझसे छिपाती हो?"

महराजिन फिर भी चुप रही। आखिर वह क्या कहे? किन्तु उनकी इस प्रीति के बाद उत्तर तो देना ही था। मुश्किल से बड़े धीमे स्वर में बोली—"हाँ, हुआ था।"

"कब?" शैलजा कपूर ने तनिक रुक कर, जिज्ञासा की।

"बहुत दिनों पहले," महराजिन ने अँधेरे में ही उनके चेहरे पर उभर आने वाली प्रतिक्रिया की रेखाओं को देखने की चेष्टा करते हुए कहा—"जब मैं सोलह-सत्तरह साल की थी—कुआँरी। मरा ही हुआ था। उसी के कारण मैं घर से भागी थी।"

शैलजा कपूर ने आगे, और आगे जानना चाहा, उसके पिता के सम्बन्ध में जिज्ञासा करनी चाही, लेकिन अपनी बाँह पर महराजिन की आँखों से टपके हुए आँसुओं का अनुभव करते हुए चुप रह गईं। सहसा महराजिन उठी, और तेज कदमों से कमरे से चली गई। उन्होंने

चाहा कि उसे पुकारें, पास बिठा कर सांत्वना के लिए उससे बातें करें, किन्तु मन में हो रहे प्रत्यावर्त्तन के प्रभाव से चुपचाप लेटी रह गईं। (छिः ! कैसी बू आती है उसके मैले-किचटे कपड़ों से !)....(वल्गार डॉटर ऑफ द डर्टी डेमन—)

(वल्गार डॉटर ऑफ द डर्टी डेमन....अच्छी कविता थी ?)

शैलजा कपूर ने करवट बदल कर, सोने की चेष्टा की। (गोपा महिपाल वर्मा की बाँहों में....)....(बिजली की तेज रोशनी में एक अंडाकार टेबिल पर तीन, नहीं, दो कप चाय, एक मर्द, एक औरत। डॉ० प्रतिपाल वर्मा....)....(अच्छा लगता है। बड़ा अच्छा लगता है।)

"सोयी हो, दीदी ?" सबेरे कोई साढे-आठ बजे सुलोचना ने उन्हें छूकर जगाते हुए कहा—"कॉलेज नहीं जाना है क्या ?"

शैलजा हड़बड़ा कर उठ बैठीं। आज बहुत देर हो गई। किरणों में गहरा पीलापन आ चला था। सुलोचना उन्हें जगा कर, चली गई थी। सहसा उनमे जाने कैसी एक श्रद्धा भर आयी, और उन्होंने पीताम्बर-जैसी किरणों को मन-ही-मन प्रणाम किया, और आशीर्वादित हुई-सी क्षण भर बैठी रहीं। (प्रभु, मुझे शक्ति दो।....प्रभु, मेरे मन को शांति दो।....प्रभु, मुझे अपनी करुणा से सिंचित करो।....मैं कातर हो जाती हूँ, प्रभु। क्षण की कामनायें, उत्तेजनाएँ मुझे बींध जाती हैं। मैं बिंधना नहीं चाहती, किन्तु जाने कैसी विवशता होती है, कि बिंधती चली जाती हूँ। मेरी देह के अणु-अणु को जाने कैसी एक कामना भिगो जाती है।....नहीं, प्रभु, अब इस उम्र में नहीं।....मुक्ति दो मुझे।)

बैठी रहीं। मन में बड़ी शांति भर गई थी। अच्छा लगता था। फिर उठीं, स्नानादि से निवृत्त होकर, देर तक दर्पण के सामने बैठी, अपने रूप को नयी रेखाओं से रचती रहीं। मन में एक अपरिचित-सा, निरुद्देश्य, पुरुषमुक्त उत्साह था, और उस उत्साह में आवेग नहीं था, उत्तेजना नहीं थी।

महराजिन नहीं आयी। मा ने खाना लाकर रख दिया। ऐसा सुस्वादु भोजन! आज क्या हो गया है?

कॉलेज के गतिमय जीवन को एक नई स्फूर्ति से ग्रहण करते हुए, शैलजा कपूर ने सहयोगियों, विद्यार्थियों को चमत्कृत कर दिया। उनके विट् के सम्मुख आज टिकना कठिन था। (गॉड, आइ• ऐम फीलिंग डिवाइन ऐंड एक्सटेंडेड। ऐंड आइ फ़ील आइ ऐम बीइंग रिसीव्ड। ....)

चार के लगभग उन्हें फ़ुर्सत हुई। कहीं जाने की तबीयत नहीं हो रही थी। इस परिश्रम और इस आह्लादक अनुभूति के बाद घर की शांति उन्हें निमंत्रित कर रही थी।

सुलोचना घर के सामने के लॉन में फूलों के बीच लेटी हुई-सी, कोई किताब पढ़ रही थी। बड़ी देर तक उसके पास बैठी, शैलजा कपूर बातें करती रहीं। कितनी सुन्दर लगती है सुलोचना, कितनी प्रिय! शैलजा ने मन-ही-मन तय किया, कि अपनी इस बहन के लिए एक देवोपम वर की तलाश करेंगी। सब के योग्य नहीं है यह सुलोचना, असाधारण है। इतना रूप, इतने गुण, इतनी प्रतिभा, साधारण कैसे सहेगा? यह इतना संश्लिष्ट युवा नारी तन साधारण कैसे सहेगा?

सुलोचना लेटी-सी थी, और उसकी आँखें दीदी के चिंतित मुख पर टिकी थीं। (दीदी, तुमसे गृह स्वर्ग होता। तुमसे क्यों गृह नहीं रचा?)

शैलजा कपूर ऊपर आकाश में तिर रहे रुई के फाहे-से सफ़ेद बादलों को देख रही थीं। (कोई आएगा—रथ पर आएगा। सुलोचना की माँग में सुहाग रचेगा।....सुलोचना के बच्चे देवोपम होंगे। एक का नाम रखूँगी—) उन्होंने भीतर-ही-भीतर एक अनबूझ व्याघात का अनुभव किया, और अपनी चिंता के बिंबों से टूटकर, सुलोचना की ओर देखा। सुलोचना उस दृष्टि की व्यथा और व्याकुलता से घबरा

कर उठ बैठी। उनकी आँखें उसके पेट पर टिकी थीं, और दृष्टि भीतर, बहुत भीतर प्रवेश करती चली जा रही थी।

सुलोचना ने उस दृष्टि की बेधकता से बचने के लिए अर्द्ध-स्फुट स्वर में जिज्ञासा की—"डॉ० वर्मा ने ज्वाइन कर लिया, दीदी?"

साँप डस गया। वे हड़बड़ा कर उठते हुए बोलीं—"नहीं।"

सुलोचना विस्मित हुई-सी रह गई। दीदी कितनी रहस्यमयी हैं।

उन्होंने एक क्षण रुक कर उसकी ओर देखा, और धीरे-धीरे बराम्द की सीढ़ियों की ओर बढ़ चलीं। माँ बराम्दे में खड़ी थीं। उन्होंने लक्ष्य किया, वे शायद उनसे कुछ कहना चाह रही थीं। उन्होंने तनिक रुक कर, मा को एक बार गौर से देखा, लेकिन इसके पहले कि वे उनसे कुछ कहें, वे तेज़ क़दमों से अपने कमरे की ओर बढ़ गईं।

तनिक अँधेरा हो चला था। शैलजा ने एक झटके से अपने कमरे का दरवाजा बंद किया, जैसे मा को यह सूचना देना चाह रही हों, कि देखो, अभी मेरे कमरे में न आना, और चिटकनी चढ़ाए बग़ैर अपने बिस्तर पर जा पड़ी। भीतर-ही-भीतर उबल रहे तूफ़ान के प्रभाव से कपड़े बदलने की सुध भी न रही।

प्रत्येक पल शैलजा को व्याकुल किए जा रहा था, और पलँग पर बाँहों में मुँह छिपाए पड़ी-पड़ी, वे प्रत्येक पल निराश्रित-सी हुई जा रही थीं। और जैसे-जैसे उनमें आश्रयहीनता का भाव भरता जा रहा था, वे इन छूटते क्षणों में स्वयं को उपलब्ध करने की प्रक्रिया में व्यक्तित्व की प्रत्येक दिशा में अनियंत्रित हुई जा रही थीं। जितेन्द्र भादुरी, महिपाल वर्मा, डॉ० प्रतिपाल वर्मा के उत्तेजक स्थितियों के चित्रों के प्रति आमंत्रण-निमंत्रण-निवेदन और वासना के आवेगपूर्ण समर्पण की मानसिक मुद्राओं की रचना में संलग्न होकर भी कहीं शांति नहीं मिल रही थी।

जितेन्द्र भादुरी....महिमाल वर्मा....डॉ० प्रतिपाल वर्मा....बहुत निकट, बहुत निकट। डॉ० प्रतिपाल वर्मा की गर्म साँसों का उत्ताप

असहज हुआ जा रहा था। उन्होंने एक झटके से अपने ब्लाउज के ऊपर वाले बटन तोड़ दिए। (उफ़!....उफ़! बड़ी पीड़ा हो रही है।)

पीड़ा असह्य होती जा रही थी। उन्होंने दोनों हाथों से तलपेट को दाबते हुए, उस पीड़ा को यथाशक्ति झेलने की चेष्टा की। (डॉ० प्रतिपाल कुर्सी के पीछे से लो-नेक ब्लाउज के अन्तर्गत हुआ जा रहा है।) सहसा पीड़ा को झेलने में स्वयं को असमर्थ पाकर उन्होंने अनुभव किया, कि उनके वश से एक लहर उठकर आँखों में भर आयी। और स्वयं को वश में करते-करते एकाएक उन्हें रोना आ गया।

अकेले कमरे में यों पड़ी-पड़ी शैलजा रोती रहीं। अँधेरा बहुत गहरा हो आया था। अच्छा, लगता है। बहुत अच्छा लगता है। (डॉ० प्रतिपाल वर्मा....शिशु....शिशिर....सुलोचना....) इन्हें आश्चर्य हुआ, शिशिर की आँखें सुलोचना से मिलती-जुलती थीं। उन्हें, अच्छा लगा, कि शिशर की आँखें सुलोचना से मिलती-जुलती थीं।

शैलजा कपूर उठ कर बैठ गईं। ब्लाउज को किसी तरह सँभाला, और घुटनों के बीच सिर टेक कर, कमरे में गहरे हो आए अंधकार को देखती रहीं। (प्रभु, मेरे मन को शांति दो!....मुझे अपनी करुणा से सिंचित करो! मैं कातर हो जाती हूँ, प्रभु।....मुक्ति, मुक्ति दो मुझे।....)

सहसा दरवाजे को एक झटके से खोल कर, मा ने प्रवेश किया, और कमरे में व्याप्त अंधकार से आतंकित और चिंतित हुई-सी पल भर खड़ी रह गईं। फिर आगे बढ़कर, किंचित् घबराए स्वर में शैलजा कपूर से पूछा—"तुमने महराजिन को कुछ कहा-सुना था क्या? आज दोपहर से उसका पता नहीं है।"

शैलजा कपूर ने सुना, और मा के प्रश्न का उत्तर देने जाकर, सहसा सम्मुख तिर आए डॉ० प्रतिपाल वर्मा के बिम्ब से कहा, 'मैं नहीं। जाओ, सुलोचना के पास जाओ।'

इतना-सा दूध और उत्तरदायित्व

फिर वही । लोग ! और लोग ! यहाँ भी वही—हर जगह लोग, बेवजह लोग, बेतरह लोग । कोई नहीं समझता । मेरा मन कोई नहीं समझता । और यह मुझे अच्छा नहीं लगता, बिल्कुल अच्छा नहीं लगता । कोई नहीं जानता, मैं भी नहीं जानता, लेकिन तब मुझे बेवजह गुस्सा आता है, बहुत तेज़ गुस्सा । ऐसी हालत में मैं कुछ भी कर सकता हूँ । कुछ भी !

कोई मेरी बात नहीं समझता । माता भी नहीं समझती । कोई नहीं समझता । इस माँ ने मुझे धारण किया है ? यह मेरी दुश्मन है । नहीं चाहिए मुझे माँ का प्यार, अपना रखे ।

सोचा था, यहाँ इस पार्क में जेठ की जलती दोपहरी में कौन आएगा ? सोचा था ! पर आनेवाले हर जगह आ जाते हैं सब मेरे दुश्मन हैं—हर जगह आ जाते हैं । उफ़ !

भिखमंगिन है शायद । शायद । होगी । ठीक मेरे सामने के पेड़ के तने से लग कर बैठी है । बैठी है । और घिनौने, गिंदरोइन, काले कलूटे, मरियल बच्चे को—। मगर यह मुझे कैसे मालूम हुआ ? बच्चा तो आँचल तले है—होगा । ज़रूर वैसा ही होगा । बच्चे को बहुत देर से दूध पिला रही है । इतना दूध पीता है यह छोटा-सा बच्चा ! इतना दूध ! कहाँ से आता है ?

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ, मेरी गोद में आ । मैं तुझे बता दूँगी, इतना दूध कहाँ से आता ।"

फिर वही । नहीं । नहीं जानता है मुझे । मैं कहता हूँ—"उफ़ ! मुझे नहीं जानता है । मैं बच्चे को दूध पिलाती हुई उस औरत का गला दूघोंट ँगा । जरूर गला घोंट दूँगा ।"

सूखे, पिचके, ढले स्तन। मुझे क्यों दीख रहे हैं? दीख रहे हैं। बेशर्म! इतना दूध—

वह बच्चा। जीवित है? मैं उसका गला घोंट दूँगा। मैं सबका गला घोंट दूँगा। मुझे नहीं चाहिए बच्चे। बेकार बात है। मुझे बच्चों से बेतरह नफ़रत है।

परी है परी। ऋता परी है। होगी। हो। अच्छा-सा नाम है। अच्छा नाम अच्छा लगता है। मगर ऋता अच्छी नहीं लगती।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ, मेरे पास आ। मैं तुझे समझा दूँगी। क्यों करता है ऐसा? अरे, नहीं रे, ऐसा नहीं करते। वह बहू है, तेरी पत्नी, तेरे बच्चे की माँ है। न, क्यों करता है ऐसा!"

"फिर वही। करूँगा। जरूर करूँगा। तुम रोकोगी? तो, रोको। गोली मार दूँगा। मुझे बच्चों से बेतरह नफ़रत है। मैं ऋता को गोली मार दूँगा।"

सत्रह जून। यानी कल। मनहूस कल। कल आदेश का जन्म-दिन है। उसने कहा था, उसके लिए—

नहीं। कुछ नहीं करना है। मुझे जन्म अच्छा नहीं लगता। जन्म-दिन अच्छा नहीं लगता। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। इतना दूध? प्रभु, ओ प्रभु? उफ़! मगर कहाँ से आता है?

आदेश। मेरा आदेश। मेरा बहुत-बहुत प्यारा, आकांक्षित आदेश। वह ऋता-जैसी अपनी बड़ी-बड़ी आँखों में अजीब-सा निमंत्रण भर कर दूध को 'मम' कहता है। 'माँ, मम'। वह अभी पिता नहीं कहता। केवल ऋता को पुकारता है, मुझे नहीं पुकारता!

मगर वह बच्चा बोलता क्यों नहीं? न बोले। नहीं बोलेगा। बोलेगा, तो जीभ खींच लूँगा। अब मुझे बच्चों का शोरोगुल बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता। मगर इतना दूध?

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ, तुझे भूख लगी होगी। कहना

मानते हैं। यों बिगड़ते नहीं। यों जिद्द नहीं करते। तूने दो दिनों से कुछ खाया नहीं है।"

फिर वही। मैं नहीं खाऊँगा। मैंने कहा न, मैं नहीं खाऊँगा। उफ़! मगर वह बच्चा। बोलता क्यों नहीं? च्, भूख नहीं है मुझे। मैंने कहा न, मेरी भूख मर गई है। मैं नहीं खाऊँगा।

इतनी ममता से वह अपने बच्चे को देख रही है। सुनो, माँ, ओ मा!

पार्क का बूढ़ा माली मुझ से कह रहा है—"यहाँ ज़मीन पर क्यों लेटे हैं? यहाँ अब धूप आ जाएगी। वहाँ उस पेड़ के नीचे बेंच पर लेटिए न।"

फिर वही। सहानुभूति। ममत्व। इंसानी मुहब्बत।

उफ़। बड़ी मुश्किल है। मैं यहीं पड़ा रहूँगा। मेरा मन।

पार्क का बूढ़ा माली मुझ से फिर कह रहा है—"वहाँ, उस बेंच पर!"

मुझे गुस्सा आ गया। मैंने उसे एक भद्दी-सी गाली दी। वह हतप्रभ-सा एकटक मेरी ओर देख रहा है। प्रभु, मुझे क्या हो गया है! हो, तो हो, मैं नहीं देखूँगा उसका उतरा, उदास चेहरा।

वह वैसे ही खड़ा एकटक मुझे निहार रहा है। वह बच्चा। जीवित है? मैं नहीं जाऊँगा वहाँ, उस बेंच पर। मेरा मन।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ, देख तो, छिः, ऐसा नहीं कहते। तू इतना पढ़ा-लिखा है। इतना समझदार है। लोग तेरा उदाहरण अपने बच्चों के आगे रखते हैं। देख न, तूने गाली दी। और माली बूढ़ा है, पिता की उम्र का।"

फिर वही, पिता? मैं बिल्कुल नहीं सह सकता यह शब्द! वह पिता था? बारह जीवित बच्चों का पिता। मेरा पिता। हम अप्रत्याशित, अनायास, अनाकांक्षित बच्चों का पिता। वह भोक्ता था मात्र, पिता नहीं था। पिता नहीं था। क्यों हमें ले आया यहाँ? मैं उसका

गला घोंट दूँगा। माँ, तुम रोना मत, मैं उसका गला घोंट दूँगा। ज़रूर घोंट दूँगा। मां, तुम रोना मत।—रोओगी। सुन कर ही रोती हो। तो, रोओ। मैं क्या करूँ ? क्यों हमें ले आया यहाँ ?

पार्क का बूढ़ा माली वैसे ही खड़ा एकटक मुझे निहार रहा है। उतरा, उदास चेहरा। ममत्व। पिता की उम्र। वह बच्चा। जीवित है ? उसका पिता कौन है ? होगा। एक ज़रूर होगा। एक होता है। हो।

पार्क का बूढ़ा माली वैसे ही एकटक खड़ा मुझे निहार रहा है। उतरा, उदास चेहरा! उफ़! नहीं झेला जाता मुझ से। इतना उतरा, उदास चेहरा। ऋता! ओ!........

ऋता मुस्कराती है, तो उसके गोरे-गुदकारे गालों में एक चमक-सो आ जाती है। अब नहीं। आती थी। इसी पार्क में पेड़ के तने से लगी बैठी ऋता के कितने फोटोग्राफ्स लिये थे मैंने।

उस औरत को क्या हो गया ? इतना दूध ? प्रभु, तुम अन्तर्यामी हो। मुझे क्षमा कर दो।

पार्क का बूढ़ा माली वैसे ही खड़ा एकटक मुझे निहार रहा है। अच्छा।

मैंने उठ कर बैठते हुए कहा—"सुनो, मैं पागल हूँ। खयाल मत करना। मैं उस बेंच पर चला जाता हूँ। वहीं लेटूँगा।"

लेकिन। वह बच्चा। जीवित है ?..........है ?..........इतना दूध ?

गनीमत है। पार्क का बूढ़ा माली फिर भी वैसे ही खड़ा एकटक मुझे निहार रहा है। बेंच गर्म नहीं है। मैंने उस पर चित लेट कर आँखें बन्द कर लीं। आह !

बड़ी अच्छी गंध आ रही है—जाने किस फूल की।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"फूल तुझे अच्छा लगता है न ?

ऋता अंजलि में फूल लिये बैठी है—ढेर सारे फूल। आ, चल, घर चल।"

फिर वही। घर। नहीं। घर नहीं जाऊँगा। घर मुझे अच्छा नहीं लगता। आ अन्तर्यामी, मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।

अच्छा नहीं लगता। कुछ भी अच्छा नहीं लगता। मैंने आँखें खोल कर ऊपर की ओर देखा। नहीं देखा जाता। ऊपर आकाश चमक रहा है। नीले फूल। पीले फूल। लाल फूल। सातों रंग के फूल। कुछ नहीं दीखता। केवल चमकते हुए आकाश से आँखों के सम्मुख खिले हुए प्रकाश के रंगीन फूल दीखते हैं।

फूल दीखते हैं। वह पेड़ दीखता है, जो मेरे सामने था और जिसके तने से लगी बैठी हुई वह औरत बच्चे को; बच्चा। जीवित है ?

सामने फूल के पौधों से बनाये हुए वृत्त के अन्दर की हरी, विलायती, मखमली घास पर बैठे चंद शोहदे ताश खेल रहे हैं। ताश खेलना अच्छा लगता है। ट्वेन्टी नाइन। कोट-पीस। रमी। ब्रिज। मगर, लोग ? उफ़।

ऋता हल्के मेरी बाँह छूकर कह रही है—याद है जी ? तुम मेरे पार्टनर थे। उस दिन पहली बार हम—

नहीं। याद नहीं है। मुझे कुछ याद नहीं है। मुझे कुछ याद नहीं आता। मुझे याद करना अच्छा नहीं लगता। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।

मैं ताश नहीं खेल सकता। मेरे मन में एक पंक्ति गूँज रही है—तुम मुखातिब भी हो, करीब भी हो, तुमको देखूँ कि—

प्रभु, तुम्हें याद होगा। मैंने तुमसे कभी कोई चीज़ नहीं माँगी। तुम अन्तर्यामी हो। मैंने कभी कोई चीज़ नहीं माँगी। आज कुछ माँगूँ तो दोगे ?

सुनो, मुझे रोकना मत। मैं ऋता का गला घोंट दूँगा।

पार्क का बूढ़ा माली। अच्छा, तो शाम हो गई ? शाम। गर्मी

के दिनों में मुझे शाम को सौंफ का शरबत पीना अच्छा लगता है।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—धत्! पगला! यह भी कोई नाश्ता हुआ? यह ज़रा-सा अँजुरी भर पानी। पानी से क्या होगा? यही तो खाने-पीने की उम्र है!

फिर वही। उम्र। खान-पीने की उम्र। पिता की उम्र। उम्र। मैं उम्र का गला घोंट रहा हूँ। पिता का गला घोंट दूँगा। हमें वह क्यों ले आया यहाँ? क्यों ले आया?

दूर। उन पेड़ों के पास सूरज छिप गया है। ताश खेलने वाले शोहदे खेलते-खेलते थक गए हैं। अजीब बात है। खेलते-खेलते लोग थक जाते हैं। अजीब बात है। उस दिन, उस पहले दिन हम खेलते जा रहे थे। खेलते जा रहे थे।

उस दिन। हाँ, ऋता, ओ ऋता।

शाम हो गई थी। ऋता ने पूछा था—सुनो, सुहागरात को तुम मुझे क्या दोगे? बड़ा अच्छा लगा था यह। कोई ऐसे प्रीति से भरकर पूछता है, तो बड़ा अच्छा लगता है—

कितनी अच्छी है ऋता! मेरी ऋता! मैंने कहा था—

मैंने क्या कहा था? ओ ऋता, मैंने क्या कहा था? मुझे याद नहीं आता। मुझे कुछ याद नहीं आता।

एक नया जोड़ा आकर मेरे सामने की बेञ्च पर बैठ गया है। मुझे फटी-फटी आँखों से देख रहा है। यह कैसा व्यक्ति है? इस वक्त पार्क में अस्त-व्यस्त सोया हुआ?

देखो, मैं बहुत बुरा आदमी हूँ। लेकिन, अच्छा-सा नाम होगा। ऋता! अच्छा-सा नाम है। लेकिन, नहीं, तुम क्यों आए यहाँ? तुम क्यों आए? तुम्हारा—नहीं ऋता का....

ऋता मेरे होठों के पास, बहुत पास, झुकी-सी कह रही है—ए, मैं अच्छा नहीं लगती अब? मुझसे क्यों कतराते हो इतना? रात में सोई नहीं। सोया ही नहीं गया। तुम्हारे बिना नींद ही नहीं आती।

मैं क्या करूँ? बोलो न, मैं क्या करूँ? तुम कहाँ थे? आदेश तुम्हें खोजता था। तुम्हें पुकारता था। तुम कहां थे? कल उसने पहली बार पि—

उफ़! नहीं। नहीं। आदेश मुझे पिता नहीं कहेगा। वह मेरा गला घोंट देगा। वह मुझे पिता नहीं कहेगा। कुछ नहीं कहेगा। हाँ, वह आकांक्षित है, अप्रत्याशित अनायास नहीं है, किन्तु मैं अप्रत्याशित अनायास हूँ। वह कुछ नहीं कहेगा। हाँ, वह कुछ नहीं कहेगा।

वह विवाहित है। शायद। है। पत्नी पति की ओर अगाध प्रीति आँखों में भरे देख रही है। मुस्करा रही है। सफेद, स्फटिक-से दाँत उसके रक्तिम अधरों के तट पर चमक रहे हैं। अच्छा लग रहा है। बहुत अच्छा लग रहा है।

ऋता मुझ से कह रही है—

फिर वही। ओ प्रभु, उफ़!

पत्नी ने खुले गले की चोली पहन रखी है। औरतें क्यों पहनती हैं यह? सब तो दीखता है। वह पेड़ दीख रहा है, जिसके तने से लगी बैठी वह और अपने बच्चे को—अब अँधेरा हो चला है। वह औरत नहीं दीखती।

इतने सटे-लगे से बैठे हैं दोनों। आसपास और भी लोग आ गये हैं। आ रहे हैं। तरह-तरह के, किस्म-किस्म के लोग। बेतरह लोग। बेवजह लोग। लोग और लोग। हे भगवान्!

ऋता मुझ से कह रही है—एजी, तुमने कहा था न एक दिन, तुम्हें याद है कि नहीं? क्या हो गया है तुम्हें? हर बात भूल जाते हो।....एक दिन तुमने कहा था—ऋता, तुम्हारी गोद में सिर रख कर मैं सुरक्षित हो जाता हूँ। दुनिया की सारी समस्याओं से मुक्त, विभीषिकाओं से रक्षित, तुम्हारी गोद में सिर रखते ही मैं किसी स्वप्न-लोक में चला जाता हूँ। तुमने कहा था न? हाँ, तुमने कहा था।

तुम कहाँ रहते हो? सुनो न, मेरी गोद तरस रही है, कितना तरस रही है।

दूर-दूर तक केवल अँधेरा फैला है। जहाँ-तहाँ बिजली के बल्ब जल रहे हैं। किन्तु, इतने अँधेरे का उनसे क्या होगा? कुछ नहीं होगा। अमृता, तुम्हारी गोद तरसेगी। कुछ नहीं होगा।

सामने की बेञ्च पर बैठा हुआ जोड़ा खिलखिला कर मुग्ध हँसी हँस रहा है। पुरुष की बाईं बाँह बेञ्च की पीठ पर आराम के लिए फैलाई जाकर स्त्री के कंधे का स्पर्श कर रही है। जाने कैसा लग रहा है। दूर, इस अँधेरे में भी उस पेड़ का तना दीख रहा है, जिससे लग कर वह औरत बैठी थी। उस ओर क्या है, नहीं दीखता। इस ओर, उसके आसपास शायद दो-तीन औरतें बैठी हैं। हाँ, औरतें ही हैं। और पाँच-सात छोटे-छोटे बच्चे उनके आसपास दौड़-दौड़ कर खेल रहे हैं। बच्चे। नहीं चाहिये मुझे बच्चे। उनका शोर यहाँ तक आ रहा है। जाने कैसा लग रहा है।

एक अधेड़ सज्जन आकर मेरे निकट बेञ्च पर बैठ गये हैं। दो-तीन साल का एक बच्चा उनके घुटनों को पकड़े खड़ा-खड़ा मुझे अचरजभरी आँखों से देख रहा है। सब मुझे अचरजभरी आँखों से देखते हैं। सब। कोई नहीं समझता मुझे।

मैं उठ कर बैठ गया।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"सुनता है?"

"नहीं।"

सामने की बेंच पर बैठा हुआ जोड़ा फिर खिलखिला कर बड़ी मुग्ध हँसी हँस रहा है। उफ़!

वह अधेड़ सज्जन मेरी ओर देखते हुए कह रहे हैं—"क्षमा कीजिए, मैंने पहले कभी आपको देखा है।"

"नहीं।"

ओ मां, ये सब मुझे पागल बना देंगे। यह मैं नहीं चाहता कि

कोई मुझ से कुछ पूछे। कोई मुझ में दिलचस्पी क्यों ले? कोई मेरी ओर मुखातिब क्यों हो, मुझे यह सब अच्छा नहीं लगता। मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।

वह अधेड़ सज्जन फिर अपना सवाल दोहराना चाहते हैं, स्पष्ट है। मैं ऊपर आकाश की ओर देखता हूँ। नीचे ज़मीन की ओर देखता हूँ। वह बच्चा उसी तरह घबराया हुआ-सा मुझे अचरजभरी आँखों से एकटक देख रहा है। मैं सामने की बेञ्च पर बैठे जोड़े की ओर देख रहा हूँ। पुरुष स्त्री के कानों में कुछ कह रहा है। सामने उस पेड़ के निकट का शोरोगुल थम गया है। बच्चे नहीं हैं। मैं क्या करूँ? ओह, मैं क्या करूँ?

वह अधेड़ सज्जन मुझ से अपने सवाल को दोहराते हुए कह रहे हैं—"क्यों, गलत कह रहा हूँ? मुझे लगता है, मैंने कभी पहले भी आपको देखा है।"

देखा होगा। सामने की बेञ्च पर बैठा हुआ जोड़ा चला गया। जाते हुए दीख रहा है।

वह अधेड़ सज्जन मेरे कंधे को छूते हुए कह रहे हैं—"आपकी तबियत ठीक नहीं है क्या? आप बोलते क्यों नहीं? जितेन बाबू आपके पिता हैं, न?"

हाँ। हम बारह जीवित बच्चों का पिता। पिता! वह भोक्ता है मात्र, पिता नहीं है। मेरा कोई पिता नहीं है। मैं अनाकांक्षित आ गया हूँ। अप्रत्याशित्व आ गया हूँ। क्यों ले आया मुझे यहाँ? क्यों ले आया? मैं उसका गला घोंट दूँगा। जरूर गला घोंट दूँगा।

वह अधेड़ सज्जन फिर मेरे कंधे को छूते हुए कह रहे हैं—जितेन बाबू आपके पिता हैं न? आप बोलते क्यों नहीं?

हाँ, मुझे बहुत गुस्सा आ रहा है। मैंने जमीन पर जोर से पाँव पटकते हुए कहा—"नहीं!"

वह अधेड़ सज्जन मेरी ओर विस्मय-चकित आँखों से देखते हुए

कह रहे हैं—"अजीब बात है। तब यह कैसे मुमकिन है? मैंने आपको जितेन बाबू के साथ ही देखा है कभी।"

हर बात मुमकिन है। नामुमकिन क्या है? देखा होगा। दूर उस पेड़ के तने के उस ओर से एक आकृति निकल कर धीरे-धीरे मेरी ओर बढ़ती आ रही है। मुझे बड़ा भय लग रहा है। बड़ा भय लग रहा है। उसकी गोद में आँचल तले एक बच्चा।....हाँ। बच्चा। जीवित है? इतना दूध! वह आकृति मेरी ओर बढ़ती आ रही है। ओ माँ! माँ!... ऋता।

मैंने घबरा कर उठते हुए वृद्ध सज्जन का हाथ पकड़ लिया और अपनी बगल में बैठाते हुए कहा—"बैठिए। मुमकिन है, आपने मुझे देखा होगा।"

वह आकृति मेरी ओर बढ़ती आ रही है। बढ़ती आ रही है। छायाकृति! प्रेताकृति! बच्चा!

वह अधेड़ सज्जन मेरी बगल में बैठते हुए कह रहे हैं—"नहीं, अब बैठूँगा नहीं। इस बच्चे को अब नींद आ रही है।"

बच्चा। उफ़! मर जाएगा। नींद आने दीजिए। आप बैठिए। दूर उस''''पेड़ के तने से एक और, एक और, एक और, उफ़! असंख्य आकृतियाँ।

वह अधेड़ सज्जन मुझसे कह रहे हैं—"आप काम करते हैं?"

मैंने कहा—"जी।"

ये काली-कलूटी, पिचकी, सूखी, घिनौनी, गिर्दरोइ नआकृतियाँ....

"कितनी तनख्वाह पाते हैं?"

"साढ़े तीन सौ, महँगाई अलग।"

सारे शरीर में भय से झुरझुरी-सी दौड़ रही है।

"भाई हैं आपके और?"

"छः।"

"बहनें हैं?"

"पाँच ।"

"आप भाइयों में सब से बड़े हैं ?"

"जी ।"

वह बच्चा स्तन को मुँह में भर कर बहुत ज़ोर से खींच रहा है। आकृतियाँ चीख रही हैं। मरा हुआ बच्चा स्तन को मुँह में भर कर बहुत ज़ोर से खींच रहा है। आकृतियाँ चीख रही हैं।

"आप विवाहित हैं ?"

"जी ।"

"कब हुआ ब्याह ?"

"दो साल हुए ।"

"बाल-बच्चे ?"

"एक ।"

एक बच्चा। मरा हुआ बच्चा। एक मरा हुआ बच्चा सूखे स्तन को बहुत ज़ोर से खींच रहा है। दाएँ खींच रहा है। बाएँ खींच रहा है। ऊपर खींच रहा है। नीचे खींच रहा है। दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे आकृतियाँ चीख रही हैं।

—उफ़ ! उफ़ !

अधेड़ सज्जन ने घबरा कर मुझे स्पर्श किया।

"आपको तो बुखार है ।"

"होगा ।"

"बहुत तेज़ बुखार है ।"

"जी !"

"हाँ, बहुत तेज़ बुखार है। चलिए, आपको घर छोड़ दूँ ।"

फिर वही। ममत्व। सहानुभूति। मानवीय प्रेम। प्रभु। प्रभु, मुझे क्षमा कर देना। मैं इस अधेड़ व्यक्ति का—

वह अधेड़ सज्जन चुपचाप मेरे सम्मुख खड़े हैं और उत्तर की प्रतीक्षा कर रहे हैं। मुझे बहुत गुस्सा आ रहा है। बहुत गुस्सा आ

रहा है। मैं कुछ भी कर सकता हूँ। ऐसी हालत में मैं कुछ भी कर सकता हूँ। गाली दे सकता हूँ। गला घोंट सकता हूँ।

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"अरे, सुन, ऐसा न करना। उम्र का, अनुभव का, सफेद बालों का लिहाज़ करते हैं। तू तो खुद पढ़ा-लिखा है। इतना समझदार है। तेरा उदाहरण लोग अपने बच्चों के आगे रखते हैं। अपने चरित्र से रचे हुए आदर्श की स्वयं हत्या करेगा?"

हाँ, करूँगा। ज़रूर करूँगा। सब की हत्या करूँगा। तुम्हारा गला घोंट दूँगा। उस पिता का गला घोंट दूँगा। वह क्यों ले आया हमें यहाँ? ऋता का गला घोंट दूँगा। आदेश का—ओह, इतना दूध! आदेश रिक्त स्तन का इतना दूध पीकर खुद-ब-खुद मर जाएगा। सुनिए, इसे सोने दीजिए। आप बैठिए। मुझे कुछ नहीं हुआ है। कुछ नहीं होगा। आप बैठिए। इसे सोने दीजिए। इसके लिए सोना ही अच्छा है। यह तो मर जाएगा। मैं जानता हूँ, मर जाएगा। यह अशुभ-कथन नहीं है, मात्र भविष्यवाणी है।

वह अधेड़ सज्जन मुझ से कह रहे हैं—"आप इसका खयाल रखियेगा। मैं कोई सवारी ले आऊँ। आपको बहुत तेज़ बुखार है।"

आकृतियाँ मुझे चारों ओर से घेर रही हैं। अँधेरा बहुत गहरा हो गया है। दूर उस पेड़ के तने के अन्दर धुँधले प्रकाश से रचित कोटर-कन्या की तरह विधवा—जैसी ऋता सफेद कपड़ों में खड़ी एकटक मुझे देख रही है। तुम सावित्री हो ऋता, किन्तु मैं सत्यवान नहीं हूँ। नहीं लौटूँगा। यहाँ से नहीं लौटूँगा। मरा हुआ बच्चा सूखे स्तन को बहुत जोर से खींच रहा है। आकृतियाँ चीख रही हैं। छायाकृतियाँ। प्रेताकृतियाँ। प्रेत। हाँ। मैं प्रेत हूँ। हो गया हूँ। मैं यहाँ से नहीं लौटूँगा। मैं यहीं रहूँगा। यहीं। यह बच्चा बहुत गहरी नींद में सोया हुआ है। मर जायगा।

मेरी अँगुलियों में जाने कैसी उत्तेजना भरती जा रही है। अँगु-

लियों से बाहों में, बाहों से तन में, तन से मन में। इस सोए हुए बच्चे का गला चमक रहा है—पतला, नाज़ुक गला। ऋता, मैं विवश हूँ। तुम्हारी गोद तरसेगी। आदेश को छोड़ दो। वे आकृतियाँ—छाया-कृतियाँ—प्रेताकृतियाँ मेरे बहुत निकट आकर चीख रही हैं। मैं उनका गला घोंट दूँगा। मेरे शरीर में भय की एक झुरझुरी-सी दौड़ रही है। मैं बेकाबू हो रहा हूँ। मेरी अँगुलियों की परिधि में पतला, नाज़ुक गला चमक रहा है।

पार्क का बूढ़ा माली मेरे हाथों को ज़ोर से पकड़े हुए कह रहा है—"अरे, यह क्या कर रहे हैं? क्या हो गया है आपको?"

फिर वही। उफ़! प्रभु, ओ प्रभु! मैं गला घोंट दूँगा। इन सारे उत्तरदायित्वों का गला घोंट दूँगा। जहाँ-जहाँ पितृत्व है, सब का गला घोंट दूँगा! मैं पिता से प्राप्त इन उत्तरदायत्वों का गला घोंट दूँगा।

माँ, तुम रोती हो? तो, रोओ। मैं क्या करूँ?

पार्क का बूढ़ा माली मुझे वैसे ही पकड़े हुए कह रहा है—"सुनिए, सुनिए, होश में आइए। यह क्या कर रहे हैं आप?"

फिर वही। हे भगवान्! मैं हर ऐसे उत्तरदायित्व का गला घोंट दूँगा। हर प्राप्त, आरोपित उत्तरदायित्व का गला घोंट दूँगा। ये बाधक हैं। कौन रोकेगा मुझे? मैं उस पिता का गला घोंट दूँगा। हम बारह जीवित बच्चों का पिता। ओह, मैं आदेश का क्या करूँ? उसका गोरा, पतला नरम-नाज़ुक गला मेरी अँगुलियों की परिधि में चमक रहा है। मैं कुछ नहीं कर सकता। मैं विवश हूँ। पिता के इन ग्यारह जीवित बच्चों से पराजित हूँ। कुछ नहीं कर सकता। मुझे बच्चों से सख्त नफरत है। मैं उनका गला घोंट दूँगा, जरूर घोंट दूँगा।

वह अधेड़ सज्जन मुझे पकड़ कर माली के सहारे रिक्शा पर बल-पूर्वक बैठा रहे हैं। मैं बेकाबू हो रहा हूँ। मैं वहाँ नहीं जाऊँगा। उस मां ने मुझे धारण किया है? वह मेरी दुश्मन है। मुझे नहीं चाहिए

किसी का प्यार, किसी की सहानुभूति । नहीं चाहिए, लोग अपना रखें ।

फिर वही । लोग । लोग और लोग । बेवजह लोग । बेतरह लोग । कोई नहीं समझता । मेरा मन कोई नहीं समझता । यह मुझे अच्छा नहीं लगता । बिलकुल अच्छा नहीं लगता । मैं सब का गला घोंट दूँगा ।

वह अधेड़ सज्जन मुझे ज़ोर से पकड़े हुए मेरी बगल में बैठे हैं । रिक्शा बड़े वेग से घर की ओर भागा जा रहा है । दूर....उस पेड़ के तने से निकली हुई आकृतियाँ, छायाकृतियाँ, प्रेताकृतियाँ ज़ोर-ज़ोर से चीख रही हैं और मेरे रिक्शे के पीछे-पीछे दौड़ रही हैं । एक मरा हुआ बच्चा ! एक मरा हुआ बच्चा !

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ । कहाँ था तू अब तक ? कैसा है तू ?"

एक मरा हुआ बच्चा । एक मरा हुआ बच्चा ! काली-कलूटी, पिचकी, सूखी, घिनौनी, गिंदरोइन आकृतियाँ........छायाकृतियाँ........ प्रेताकृतियाँ दहाड़ मार कर रो रही हैं—इतना-सा उत्तरदायित्व भी निभाया नहीं गया ? इतना दूध !....इतना-सा दूध ! उफ़ !

मेरी माँ मुझ से कह रही है—"आ, मेरी गोद में आ—माँ की गोद में !"

फिर वही । नहीं ! उफ़ ! प्रभु, तुम अन्तर्यामी हो । ऐसी हालत में मैं कुछ भी कर सकता हूँ, कुछ भी........

सूरजमुखी के फूल

योगमाया एक बहुत बड़े मकान में रहती हैं। मैं भी एक बहुत बड़े मकान में रहता हूँ। उस बड़े मकान के आधे हिस्से में योगमाया रहती हैं, आधे में मैं रहता हूँ। मकान के सामने काफ़ी ज़मीन है। आधी ज़मीन मेरी है, आधी योगमाया की है। मैंने अपनी ज़मीन में कई रंग के फूल लगा रखे हैं। मुझे फूलों का बिल्कुल शौक़ नहीं है, घर सजाकर रखने का हौसला है। योगमाया को फूलों का शौक़ है। वे रोज सुबह-शाम क्यारियाँ रचती-बनाती हैं, साफ़ करती हैं, पानी पटाती हैं। उन्हें जब कभी मैं देखता हूँ, क्यारियों में देखता हूँ। वे अपने हिस्से की सारी ज़मीन में एक बार एक ही फूल लगाती हैं। इन दिनों उन्होंने सूरजमुखी के फूल लगा रखे हैं। मैंने भी एक बार सूरजमुखी फूल लगाया था। उसने सूरज की ओर कभी मुख नहीं किया तो मुझे गुस्सा आ गया। मैंने उसे उखाड़कर फेंक दिया।

यह क़िस्सा पिछले साल का है। पिछले साल की बहुत-सी बेकार बातें मुझे याद हैं। मेरी याददाश्त अच्छी है। जिस दिन मैंने सूरजमुखी का पौधा उखाड़कर फेंका, योगमाया उसी दिन इस मकान में आयीं। योगमाया विक्टोरिया पर आयी थीं। आजकल विक्टोरिया का फैशन नहीं है। उनके साथ बाद में विक्टोरिया से जो चीज़ें उतारी गयी थीं, वे थीं—तीन बड़ी पेटियाँ, एक आदमक़द आईना, एक चमड़े का सूटकेस, एक बर्तन की सन्दूक और एक देवदार का जालीदार किवाड़ों वाला कबूतर-खाना। कबूतर-खाने में ग्यारह कबूतर थे। मैं मांस-भक्षी हूँ, मगर मैं कबूतर नहीं खाता। मेरा दोस्त प्यारेलाल खाता है। मैंने उसे कई बार मना किया, कबूतर नहीं खाना चाहिए। औरत और कबूतर, दोनों का एक-न-एक प्रकट-अप्रकट चाहनेवाला ज़रूर होता

है। उन्हें तक़लीफ़ होती है, तो चाहनेवाले को भी तक़लीफ़ होती है। प्यारेलाल ने मेरी बात नहीं मानी। उसने मुझे बेवक़ूफ़ कहा।

जिस दिन योगमाया आयीं, उसी दिन की बात है। मैं मकान के अपने हिस्से के बरामदे में बैठा था। मेरे और योगमाया के हिस्से के बरामदे के बीच एक झाँझर दीवार है। दीवर में एक सौ तेरह ख़ाने हैं। दरअसल दीवार में एक सौ चौदह खाने हैं। एक खाने की एक ईंट खिसक गई है। दो ख़ानों का एक बड़ा ख़ाना बन गया है। उस बड़े खाने में मेरा नौकर अपना एक गोल छोटा आईना और अपनी एक छोटी कंघी रखता है। मुझे उस आईने और कंघी को देख-देखकर बहुत गुस्सा आ रहा था। थोड़ी देर पहले नौकर को बाज़ार भेज देने के कारण मुझे अपने पर भी बहुत गुस्सा आ रहा था। उसे गए ढाई घंटे से भी ज्यादा हो रहा था। बाज़ार मेरे घर से एक मील से भी कम दूर है। मेरा नौकर बहुत धीरे-धीरे चलता है। मैंने इसके लिए उसे कई बार डाँटा भी है लेकिन उस पर कोई असर नहीं हुआ। घोंघे की चाल! मैंने बचपन में एक कहानी पढ़ी थी। उसका अन्त सोच-सोचकर मुझे नौकर पर और भी गुस्सा आ रहा था। शायद मैं गुस्से में उसका वह आईना उठाकर फेंक देता, पर मैंने ऐसा नहीं किया। दूर से मोटर के हार्न की आवाज सुन पड़ी। योगमाया अन्दर से आकर अपने हिस्से के बरामदे में खड़ी हो गईं। वे हल्के पीले जार्जेट की साड़ी और हल्के हरे लेडीमिन्टन का ब्लाउज पहने हुए थीं। उनका मुख दूसरी ओर मुड़ा हुआ था। मुझे सिर्फ़ उनके शरीर का एक हिस्सा टुकड़ों में नजर आ रहा था। मुझे एक सौ तेरह ख़ानेवाली झाँझर-दीवार के पार्टीशन का खयाल खूब पसंद आया। मैंने मन-ही-मन ऐसा ही एक मकान

प्यारेलाल ने बरामदे की सीढ़ियों पर क़दम रखा। प्यारेलाल ने मेरी ओर देखते हुए कहा—कहो म्याँ, क्या हाल हैं तुम्हारे?

वह बिल्कुल मेरे क़रीब आकर खड़ा हो गया। मैंने उठते हुए कुर्सी उसकी ओर खिसका दी। मैं एक और कुर्सी लाने अन्दर चला गया, लौटा तो प्यारेलाल झाँझर दीवार के पार कुछ देख रहा था। योगमाया का सारा सामान अब भी बरामदे में ही पड़ा हुआ था। जालीदार किवाड़ोंवाले कबूतरखाने से गुटर-गूँ की आवाज़ें आ रही थीं। प्यारेलाल ने हैरत की निगाह से मेरी ओर देखा और तनिक रुककर कहा—क्या बात है म्याँ, मुझे इस वक्त यकायक भूख क्यों मालूम होने लगी है?

मैं समझदार आदमी हूँ। संकेत ग्रहण करते हुए मैंने प्यारेलाल की ओर मुस्कुराने की कोशिश करते हुए देखा। मैंने कहा—देखो प्यारेलाल, मुझे तुम्हारी हर बात पसंद है, मगर जब कबूतरों को देखकर तुम्हें यकायक भूख लग आती है, तो मुझे तुम्हारी उस बेरहम भूख से बड़ा सदमा पहुँचता है!

—क्यों?—प्यारेलाल ने उठकर खड़े होते हुए सवाल किया और उस झाँझर दीवार के पार पड़े सामान को अचरज-भरी आँखों से देखने लगा।

मैंने वैसे ही बैठे हुए कहा—क्यों का क्या उत्तर दूँ! तुम मानोगे? फिर भी कारण कई हैं और बताये जा सकते हैं। कबूतर की निरीहता, उसकी कोमलता, उसका सौंदर्य, उसकी अगाध प्रीति, उसका सदैव जोड़े में रहना....

मैं अपनी बात समाप्त न कर सका। ऐसा अक्सर होता है! प्यारेलाल उतावला-क़िस्म का आदमी है। वह अक्सर बीच में टोक बैठता है। प्यारेलाल ने मेरी ओर मुड़कर कहा—म्याँ, तुम रूमानी आदमी हो। हर रूमानी आदमी अधिक संवेदशील होने के कारण काफ़ी हद तक कमज़ोर और बेवकूफ़ होता है। तुम्हारा कहना मान-

कर कबूतर खाना छोड़ दूँ तो इसका अर्थ होगा कि मुझे निष्कष रूप में तुम्हारी तरह क्वाँरा ही रह जाना होगा।

मैं रूमानी हूँ ? हूँ, तो क्या हुआ ? कोई गुनाह है, होगा ? मगर मैंने कोई उत्तर नहीं दिया। सिर्फ़ उत्तर सोचकर रह गया। यह मेरी आदत है। मुझे अपने नौकर पर बहुत गुस्सा आ रहा था। प्यारेलाल को यहाँ-वहाँ बेमतलब बकते चलने का रोग है। वह क़िस्सा उड़ा देगा कि मुझे अतिथि-मित्रों का चाय वगैरह से स्वागत करने की भी तमीज़ नहीं है ! झाँझर दीवार के बड़े खाने में आईना पड़ा था। उसकी बग़ल में टूटी कंघी पड़ी थी। मेरा गुस्सा रह-रहकर उन्हें देखकर भड़क उठता था। मुझे यकायक बहुत गुस्सा आ गया। मैं उन्हें उठाकर फूलों की क्यारियों में फेंक देने के लिए उठकर लपका। मैं यह कर बैठता, मगर यकायक प्यारेलाल ने सवाल कर दिया—क्यों, यह क्या माजरा है ?

मेरे पाँव रुक गए। मेरा उठा हुआ हाथ लौट आया। मैंने झाँझर दीवार के पार देखा। प्यारेलाल उधर ही देख रहा था। कबूतरखाने का जालीदार किवाड़ खुला था। योगमाया उसमें दाना डाल रही थीं। मुझे प्यारेलाल की तेज़ आवाज़ अब चुभती हुई-सी मालूम हुई। वह एकटक योगमाया को देख रहा था, मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने उसकी बात का कोई जवाब भी नहीं दिया। यह मेरी आदत है। मैं ज़रूरत से कुछ कम ही बोलता हूँ। मुझे गुस्सा आ गया। मैंने प्यारेलाल की बाँह पकड़ ली। मैं शरीफ़ आदमी हूँ। मैंने मार-पीट नहीं की। मैंने प्यारेलाल को सिर्फ़ खींचकर कुर्सी पर बिठा दिया। उसने आँखों में अचरज भरकर मेरी ओर देखा। मैंने कहा—माजरा-वाजरा नहीं है। तुम चुपचाप बैठो।

—माजरा है, ज़रूर है !—प्यारेलाल ने मेरी कठिनाई नहीं समझी। ज़िद-भरी वैसी ही तेज़ आवाज़ में बोला—मैं चुपचाप नहीं बैठूँगा। मुझे कुछ नज़र आ रहा है।

मैंने कहा—नज़र आ रहा है तो सिर्फ़ देखो। यहीं ऐसे ही कुर्सी पर रहो, बोलो मत।

कहकर मैंने उसकी ओर देखा। मगर मेरी आँखें तुरन्त मेरा शासन ताड़ बैठीं, झाँझर दीवार के पार भाग गयीं। योगमाया वहाँ नहीं थीं। कबूतर-खाने का जालीदार किवाड़ बन्द हो गया था। प्यारेलाल उठ खड़ा हुआ। उसने मेरे निकट आकर जिज्ञासा की—तुम भगाकर लाए हो?

—किसे?—मैं उसके बेहूदा सवाल से एकदम चौंक उठा था।

—औरत!—उसने वैसे ही स्वर में कहा।

मुझे उस पर बहुत गुस्सा आया। मैंने चाहा कि वह चला जाए। मैंने यह सिर्फ़ चाहा। मैंने उससे कहा—बैठो।

उसने मेरी बात नहीं मानी। वह वैसे ही मेरे पास खड़ा रहा। मैं विवश-सा उसकी बेहूदगी का इन्तज़ार करता रहा। सहसा उसने मेरे पास से हटकर अपनी मोटर की ओर बढ़ते हुए कहा—अच्छा ठीक है। मगर होशियार, मैं हल्ला कर दूँगा।

मैं घबराकर प्यारेलाल को पकड़ने के लिए लपका। वह एक क़िस्सा गढ़कर हवा में उड़ा देगा। वह यह रोज करता है। मुझे उसके क़िस्सों से बड़ा डर लगता है! बड़े वैसे होते हैं उसके क़िस्से! मेरे बारे में लोगों को ग़लतफ़हमी हो जाएगी। मुझे बहुत गुस्सा आया। मुझे योगमाया पर भी गुस्सा आया, प्यारेलाल पर भी। उसका इस तरह अपनी मोटर की ओर बढ़ना मुझे बहुत बुरा लगा। मुझे अपने नौकर पर बहुत गुस्सा आया। इस वक्त उसे यहाँ पहुँच जाना चाहिए था।

प्यारेलाल ने अपनी मोटर में बैठकर एक बार मेरी ओर अजीब आँखों से देखा। उसने मोटर स्टार्ट कर दी। मैंने मोटर का दरवाज़ा पकड़कर खोलने की कोशिश की। वह नहीं खुला। वह बहुत दिनों से ख़राब है। जाने क्यों वह उसे ठीक नहीं करवाता? मैं चुपचाप दरवाजे

की मूठ पकड़े खड़ा रहा। मुझसे कुछ कहते न बन पड़ रहा था। बस, नौकर पर बहुत गुस्सा आ रहा था।

प्यारेलाल ने धीमे-से मोटर को बैक करते हुए कहा—बताओ, वह औरत कौन है?

मैं अलग हटकर खड़ा हो गया। मुझे खुद मालूम नहीं था। मैंने कोई जवाब नहीं दिया। दरअसल मुझे सातवें दिन सुबह मालूम हुआ कि योगमाया कौन हैं?

प्यारेलाल की मोटर मेरी आँखों से ओझल हो गयी। पेट्रोल की गन्ध रह गयी। मुझे पेट्रोल की गन्ध बहुत अच्छी लगती है। मैं उस गन्ध के लिए कुछ देर तक वहीं खड़ा रहा, फिर बरामदे में आकर कुर्सी पर बैठ गया। अब क्या होगा? मुझे फिर अपने नौकर पर बहुत गुस्सा आया!

मैं प्यारेलाल को खूब जानता हूँ। उसने दोस्तों के बीच उसी दिन एक क़िस्सा उड़ा दिया। मगर सच, मुझे मालूम नहीं था कि योगमाया कौन है? वह मुझे ठीक सातवें दिन सुबह मालूम हुआ।

रविवार का दिन था। मैं रविवार की सुबह देर तक सोया रहता हूँ। मुझे नींद न आने का रोग है। बड़ी कोशिश के बाद रात के पिछले पहर नींद आती है, मगर तड़के उठ जाना पड़ता है। नौ बजे दफ्तर पहुँचना होता है। मैं अपने बच्चे को किसी बड़े बैंक का मैनेजर नहीं बनाऊँगा। बुरी नौकरी है। रोज़ सुबह कच्ची नींद उठना पड़ता है। मैं रविवार को पूरे हफ्ते की नींद देर तक सोकर पूरी करता हूँ।

मैंने बड़ा भयानक सपना देखा। डकैतों का एक दल हथौड़े से मेरे कमरे का दरवाज़ा तोड़ रहा है। एक मेरे सिर में हथौड़े से एक कील ठोंक रहा है। मेरी नींद टूट गई। मैं घबराकर उठ बैठा। कहीं पास ही कोई हथौड़े से कील ठोंक रहा था। मैंने थोड़ी देर आहट ली, बाहर से आवाज़ आ रही थी। शायद बरामदे में कोई

कील ठोंक रहा था। मुझे बहुत गुस्सा आया, मैं दरवाज़ा खोलकर बाहर निकल आया।

मेरा अनुमान ठीक निकला। झाँझर दीवार के पार अपने हिस्से के बरामदे में योगमाया खड़ी थीं। नहाकर आयी थीं। बाल भीगे थे, खुले थे और पीठ पर फैले थे। सफेद सिल्केन साड़ी और लोन की चोली पहने थीं। गेहुँआ पीठ के नीचे का हिस्सा नज़र आता था। एक आदमी उनके बरामदे के एक पाए पर नेम-प्लेट लगा रहा था। मेरे मन में उत्सुकता जगी। जी में हुआ कि जाकर देखूँ, पर मैंने मन को शासित किया। मैं संयम में विश्वास करता हूँ। मैं अन्दर लौट आया।

मैं नहाया, खाया-पिया और फूलों की क्यारियों की देख-परख करने निकल आया। माली काम कर रहा था। क्यारियों में खिले रंग-बिरंगे फूलों को घूम-घूमकर देखने लगा। एक बात मेरी समझ में नहीं आती, लोगों को फूल क्यों अच्छे लगते हैं?

यकायक मैं रुक गया। मुझे लगा, मैं अपने हिस्से को लाँघ गया हूँ। मैंने आँखें ऊपर उठायीं। मुझे ठीक लगा था। मैं योगमाया के बरामदे की सीढ़ियों के पास पहुँच गया। बरामदा सूना था। पाए में नेम-प्लेट लगा था—योगमाया, एम० ए०, बी० टी० इंसपेक्ट्रेस आफ़ स्कूल्स।

मैं वहाँ से तुरंत हट गया। मुझे प्यारेलाल की याद आयी। उस दिन के बाद उससे फिर मुलाक़ात नहीं हुई थी। मैं अपने फूलों की क्यारियों में लौट आया। माली को पीला गुलाब लगाने को कहा। रंगों में मेरी दिलचस्पी नहीं है। मैं ज्यादातर सफेद कपड़े पहनता हूँ, मगर मेरे पास पीले रंग की आधा दर्जन टाइयाँ हैं। मैं अन्दर आकर सोने के खयाल से लेट गया। नींद नहीं आयी। मुझे नींद नहीं आती। यह रोग है। मैंने इलाज करवाया था, कोई फ़ायदा नहीं हुआ। डाक्टर

ने कहा—सोचना छोड़ दीजिए। मैंने कोशिश की, लेकिन सोचूँ नहीं तो पागल हो जाऊँ।

शाम हो चली थी। मैं बाहर बरामदे में आकर बैठा गया। झाँझर दीवार के बड़े खाने में छोटा गोल आईना पड़ा हुआ था। नौकर को डाँटने के लिए पुकारना ही चाहता था कि कानों में बिजली-सी कौंध गई। मैं अवाक् रह गया। झाँझर दीवार के पार से योगमाया मुझसे पूछ रही थीं—आप माली को क्या तनख्वाह देते हैं?

मैं मुश्किल में पड़ गया। जब कोई औरत मुझसे कोई सवाल करती है, मुझे यकायक शब्द नहीं मिलते। मैंने जवाब नहीं दिया। मैं सिर्फ़ उठकर खड़ा हो गया। वे सुबह के कपड़ों में थीं। उन्होंने फिर अपना सवाल दोहराया—आप माली को क्या तनख्वाह देते हैं?

अनजाने ही मेरे मुँह से शब्द निकल गए—हफ़्ते में दो दिन के लिए पाँच रुपए महीना।

बस। उन्होंने सवाल किया था, मैंने जवाब दे दिया था। अब क्या होगा? मैं मुश्किल में था। सभ्यता के तक़ाजे के अनुसार बात आगे बढ़नी चाहिए थी। मैंने साहस किया। पूछा—आप बदलकर नयी आयी हैं न?

—जी।—योगमाया ने कहा और दूसरी ओर देखने लगीं।

चोली के नीचे उनका पेट खुला था और दीखता था। चोली के अन्दर ब्रेस में सेफ्टी-पिन लगे हुए थे। और भारी उरोजों के कारण उनके बीच की जगह बीच-बीच में खुली थी। गर्दन पर एक छोटा-सा काला मस्सा था। ललाट पर एक बड़ी काली बिंदी भी थी। मैंने इधर योगमाया देख रही थीं, देखा। चहारदीवारी पर एक कबूतर बैठा था और छत की ओर आँखें किये शायद दूसरे का इन्तज़ार कर रहा था। मौक़ा देखकर मैं दबे पाँव अपने कमरे में लौट गया। मुझे रह-रहकर प्यारेलाल की बहुत याद आ रही थी। मेरे घर से निकलने का वक्त भी हो गया था। मैंने कपड़े पहने, पीली टाई

लगाई। देर तक योगमाया के बारे में बैठा सोचता रहा।

यकायक दूर से मुझे मोटर की परिचित आवाज़ सुनाई पड़ी। मैं बाहर बरामदे में निकल आया। आश्चर्य हुआ, योगमाया सड़क की ओर देखती हुई अपने बरामदे की सीढ़ियों पर खड़ी थीं। उन्होंने कपड़े बदल लिये थे। हल्के नीले रंग की बिना किनारे की क्रेप की साड़ी और गहरे नीले वेलवेट के ब्लाउज़ का मैच बड़ा अच्छा लगा। कत्थई रंग की मोटर आकर मेरे बरामदे की सीढ़ियों के पास खड़ी हो गई। योगमाया तेज़ क़दमों से अन्दर चली गईं। प्यारेलाल ने मोटर से उतरते हुए अपनी परिचित प्रसन्न आवाज़ में कहा—क्या बात है म्याँ, किसी ने पर काट दिये हैं क्या तुम्हारे?

सवाल बड़ा अच्छा था। सवाल करने का लहजा बड़ा अच्छा था। मगर वह बहुत ऊँची और तेज़ आवाज में बोलता है! प्यारेलाल को ऐसा नहीं करना चाहिए, पहले की बात और थी।

मैंने प्यारेलाल की ओर बढ़ते हुए कहा—न, मैं तुम्हारे इन्तज़ार में बैठा था।

प्यारेलाल बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते रुक गया। ठठाकर हँसा। बोला—पर कट गए हैं म्याँ, फिर भी मुझसे उड़ते हो?—कहकर वह फिर ठठाकर हँस पड़ा। मैं चुपचाप बढ़कर उसकी मोटर में बैठ गया। बोला—आओ!

मुझे प्रतीक्षा करनी पड़ी। वह वहीं सीढ़ियों के पास खड़ा कुछ देख रहा था। मैंने सिर निकालकर उस ओर देखा। योगमाया चहार-दीवारी पर बैठे एक कबूतर को अँगुलियों के इशारे से बुला रही थीं। उनके जूड़े में नन्हें सफेद फूलों की वेणी बँधी थी और जूड़े के बीच में सूरजमुखी का एक मझोले आकार का पीला खिला हुआ फूल चमक रहा था।

मुझे प्यारेलाल का योगमाया की इस तरह एकटक देखना बुरा लगा। यह बुरी बात है। लेकिन टोकने की ज़रूरत नहीं हुई। वह

खुद ही आकर मोटर में अपनी जगह पर बैठ गया। उसने मोटर व
बैक करते हुए सवाल किया—कहाँ चलूँ ?

मैंने कहा—पिक्चर नहीं जाना है ?

उसने एलफिन्स्टन की सड़क पकड़ी। खामोशी छायी रही। सह
उसने बाँए हाथ से मुझे छूते हुए सवाल किया—क्वाँरी है या ब्याहता

—कौन ?—मैंने चौंककर पूछा।

—वही, झाँझर दीवार के पारवाली !—उसने कहा। कहकर व
ठठाकर हँस पड़ा। पहले मैं उसके सवाल और उसकी हँसी का अ
न समझ सका। पीछे गुस्सा आया। मुझे क्या समझता है ! मैं इस
चिंता में रहता हूँ। मैंने बहुत गम्भीर होकर कहा—मैं क्या जानूँ !

मैं दूसरी ओर देखने लगा। क्या प्रमाण है कि योगमाया क्वाँ
हैं ? मैंने तनिक देर बाद मुड़कर प्यारेलाल की ओर देखा। वह बेह
गम्भीर मालूम हो रहा था। मुझे दुख हुआ। मुझसे यह नहीं झेल
जाता। वह अक्सर मुझे ग़लत समझ लेता है। मुझे योगमाया
क्वाँरी होने की बात लगभग एक महीने बाद मालूम हुई। मुझे उ
दिन की एक-एक बात याद है। मेरी याददाश्त बहुत अच्छी है
प्यारेलाल इसका मज़ाक उड़ाता है। कहता है—यह पैदा हुआ त
वर्षों इसे नौ महीने की तकलीफें नहीं भूलीं और यह उन्हें याद कर
रोया करता था।

मुझे वह दिन याद है। रात शुरू हुई थी। योगमाया दो-ती
दिनों से स्कूलों का निरीक्षण करने कहीं बाहर गई हुई थीं। मैं बाह
बैठा था कि वे विक्टोरिया पर आईं। और अन्दर चली गईं। फिर थोड़
देर बाद योगमाया बाहर निकलीं, कोचवान को पैसे दिये। विक्टोरि
धीरे-धीरे आँखों से ओझल हो गई। वे मुड़ीं, बरामदे की सीढ़ि
चढ़ते-चढ़ते सहसा रुक गईं। मुझे खुशी हुई, मुझे देखकर वे रुकी थीं
मैं औरतों के प्रति कभी अपना उतावलापन प्रकट नहीं करता। उठव
मैंने बत्ती नहीं जलाई। वे वहीं से लौटकर मेरे बरामदे की ओर व

आयीं। मेरे बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़कर बिल्कुल मेरे पास आकर खड़ी हो गई।

यात्रा की रेल-पेल और मौसम की वजह उनके शरीर से एक अजीब-सी गंध आयी। मुझे वह अच्छी लगी। यात्रा से लौटकर औरतें शायद ऐसी ही महकती हैं। मैं उठकर खड़ा हो गया।

योगमाया ने कहा—देखिए मैं आपके लिए पीले गुलाब की क़लमें एक जगह से लिये आयी हूँ। कल मेरे यहाँ से मँगा लीजिएगा।

शुक्रिया।—मैं कहना चाहता था। मैं कह न सका।

योगमाया ने फैले हुए अँधेरे और मेरी खामोशी से शायद प्रभावित होकर मेरे शुक्रिया अदा करने के पहले ही सवाल कर दिया—क्या बात है? आप इस तरह अँधेरे में अकेले क्यों बैठे हैं?

मुझे अपने पर बहुत गुस्सा आया। यह भी कोई बात है! मैंने साहस किया। मुझे प्रसन्नता हुई। मेरी आवाज़ में ज़रा भी कंपन नहीं था। मैंने कहा—दूधवाले का इंतजार कर रहा हूँ।

वे मेरे सामने की कुर्सी पर बैठ गई। बोलीं—क्यों, नौकर कहाँ है आपका?

मैंने कहा—बीमार है।

उनके बरामदे की बत्ती जल रही थी। हल्के नीले रंग की साठ पावर की होगी। झाँझर दीवार से उसकी रोशनी टुकड़ों में आ रही थी। मैंने योगमाया को देखने की कोशिश की। आँखें नहीं उठीं। उन्होंने तनिक झिझककर सवाल किया—आप खाएँगे कहाँ? बनाना आता है?

मैंने कहा—नहीं, यह कला मैंने सीखी ही नहीं। होटल में खा आऊँगा।

फिर योगमाया चली गईं। मैं बैठा ही रहा। कुछ देर बाद योगमाया के बरामदे से आहट आयी। मैंने चाहा, मगर मैंने उस ओर मुड़कर नहीं देखा। मैंने अपनी आँखें बन्द कर लीं। आहट बहुत

क़रीब आ गई। अपरिचित आवाज़ मेरे कानों में गूँज उठी—मेम-साहब ने कहा है, आपका खाना बन रहा है।

मैंने चौंककर अपनी आँखें खोल दीं। मेरे सामने योगमाया की अधेड़ नौकरानी खड़ी थी। मैंने उसे टालने के लिए कहा—अच्छा।

नौकरानी चली गई। मैंने थोड़ी बेचैनी महसूस की। मैंने घड़ी देखी। पौने आठ। मैं उठकर अपने कमरे में जाकर लेट गया। सहसा मुझे प्यारेलाल की बहुत याद आयी। मैं उठकर ड्राइंग-रूम में आ गया। फ़ोन पर प्यारेलाल से पूछा—आ सकोगे?

प्यारेलाल हँसा। बोला—म्याँ, तुम क्यों नहीं आ सकते?

मैं मुश्किल में पड़ गया। लेकिन मैंने योगमाया के यहाँ खाने के निमंत्रण की बात नहीं बताई। मैंने कहा—मुश्किल में हूँ। लगभग साढ़े नौ तक एक काम है।

प्यारेलाल ने सुनकर फिर ठहाका लगाया। बोला—ठीक है म्याँ, मैं साढ़े नौ के बाद आऊँगा।

मैं और मुश्किल में पड़ गया। यह और बुरा हुआ। ऐन मौके पर आ सकता है! मैंने घबराकर उसे पुकारा। मगर उसने अपना रिसीवर रख दिया था। मैं वहीं सोफे पर बैठ गया। अब क्या होगा? बरामदे की सीढ़ियों पर दूधवाले के जूते की आवाज़ आयी। मैं नहीं उठा। रसोईघर में रख आने को कह दिया। थोड़ी देर बाद मैंने घड़ी पर निगाह डाली। साढ़े आठ। नौकर के प्रति मन सहानुभूति से भर आया। मैंने रसोईघर में बिजली का स्टोव जलाकर दूध चढ़ा दिया।

दूध का बर्तन लिये नौकर के कमरे की ओर बढ़ने को ही था कि बाहर दरवाजे पर थपकियाँ सुन पड़ीं। मैं बाहर के दरवाज़े की ओर लपका। कलेजा धड़क रहा था। कल प्यारेलाल मुझे चर्चा का विषय बनाकर छोड़ेगा!

मैं ठगा-सा रह गया। दरवाज़ा खुला था। परदा हटाकर एक हाथ

से दरवाज़े की चौखट पकड़ें योगमाया खड़ी थीं। उन्होंने मुझे देखते ही कहा—चलिए न, खाना मेज़ पर लगा है।

मैंने सुना। सुनकर मैंने सीधे उनकी ओर देखा। मुझे थोड़ी झिझक मालूम हुई। मैंने दीवार पर लगी घड़ी देखने के बहाने उन्हें देखा। वे नहाकर आयी थीं। चौड़ी काली किनारी की सफेद धुली साड़ी और गहरे ऐश कलर का ब्लाउज़ पहने थीं। मैं अवाक् रह गया। वे तो बड़ी सुन्दर हैं मैंने कहा—चलिए।

खाना बहुत अच्छा बना था और वे मेज़ पर ठीक मेरे सामने बैठी थीं। यकायक उन्होंने सवाल किया—आपके घर में कौन-कौन हैं?

शिष्टाचार के नियमों के अनुसार मेरी नज़र प्लेट पर झुकी थी। घबराहट में उठी और उनकी नज़र से टकरा गई। मैंने तुरन्त अपनी नज़र हटाकर फिर प्लेट पर झुका दी। उनके ललाट पर लगी बड़ी काली बिंदी से प्रभावित होने के कारण मेरा दिल धड़क रहा था। मैंने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। फुल्के का एक टुकड़ा मुँह में रखकर सँभलने के लिए थोड़ी देर खामोश रहा। फिर बोला—बूढ़े पिता जी हैं, बूढ़ी माँ हैं और छोटा भाई है, जो डाक्टर हो रहा है।....आपके?

अपने सवाल से मैं खुद ही चौंक उठा। यह कैसे मुमकिन हुआ। कभी-कभी भीतर जाने कौन मुझे धोखा दे जाता है।

तनिक देर बाद योगमाया ने तनिक झिझक-भरे स्वर में कहा—मैं हूँ, बस।—और उसके असर को काटने के लिए तुरन्त सवाल किया—फुल्के मँगवाऊँ?

मैं खा चुका था! मैंने कहा—नहीं।

नौकरानी ने हाथ धुलाया। मैंने उनसे विदा माँगी। प्यारेलाल के आने का वक्त हो चुका था। मैं आकर अपने बरामदे में बैठ गया। मेरे बरामदे की रोशनी जल रही थी। मैंने रोशनी गुल कर दी। योगमाया के बरामदे की नीली रोशनी झाँझर दीवार से टुकड़े-टुकड़े आ रही थी।

बैठे-बैठे मुझे नींद आने लगी। नींद आती नहीं है, सिर्फ़ लगता है कि आ रही है। मैंने हाथ फैलाकर कलाई में बँधी घड़ी पर नीली रोशनी का एक टुकड़ा लेकर देखा। तभी मोटर की आवाज़ सुन पड़ी। साढ़े नौ। प्यारेलाल में यह एक गुण है। समय की पाबन्दी उससे [illegible]। मैं उठकर खड़ा हो गया। मोटर की तेज़ रोशनी अहाते में प्रवेश करती हुई दीख पड़ी। यकायक मैं चौंक पड़ा। योगमाया के बरामदे में किसी के अन्दर से दौड़कर आने की आवाज़ सुन पड़ी। मैंने झाँझर दीवार के पार देखा। पाए से लगकर योगमाया खड़ी थीं।

मोटर आकर मेरे बरामदे की सीढ़ियों के पास खड़ी हो गई। प्यारेलाल झटके-से दरवाज़ा खोलकर निकल आया। मैंने सुना, योगमाया तेज़ क़दमों से अन्दर चली गईं। प्यारेलाल ने उत्सुक आँखों से योगमाया की अन्दर जाती हुई आकृति को देखते हुए सवाल किया—क्यों म्याँ, तुम्हारी तबीयत का क्या हाल है?

मैंने उधर से प्यारेलाल का ध्यान खींचने के लिए कहा—आओ।

कहकर मैं रुका नहीं। अन्दर की ओर बढ़ गया। प्यारेलाल अंदर आकर मेरी बगल में बैठ गया। वह थोड़ी देर तक मुझे देख-देखकर अजीब-अजीब-सी सूरतें बनाकर मुस्कुराता रहा। सहसा वह उठ खड़ा हुआ। मेरे पीछे आकर खड़ा हो गया। मेरे सिर के बालों को पकड़-कर प्यार से झटकते हुए बोला—देखो, झूठ न बोलना, सच-सच बताना, उसकी उम्र क्या है?

—किसकी?—मैंने सवाल की बेहूदगी से चौंकते हुए पूछा।

प्यारेलाल ने कहा—किसकी क्या म्याँ, पड़ोसिन की!

मुझे बहुत गुस्सा आया, लगा कि उठकर पीट बैठूँगा। फिर भी मैंने गुस्सा पीते हुए कहा—मुझे मालूम नहीं।

प्यारेलाल ने ज़ोर का ठहाका लगाया। बोला—म्याँ, मुझसे उड़ते हो! तुम्हें खूबसूरत पड़ोसिन की उम्र मालूम नहीं?

मुझे प्यारेलाल की इस बेहूदगी से बड़ी पीड़ा हुई। मैं मर्माहत-

सा खामोश बैठा रहा। वह थोड़ी देर तक वैसे ही मेरे पीछे खड़ा मेरे जवाब का इन्तज़ार करता रहा। फिर एक झटके से मुड़ा और जाकर अपनी मोटर में बैठ गया। मैं रोक भी न सका।

उसने मोटर बैक करते हुए चिल्लाकर कहा—तुम छिपाते हो! तुम झूठ बोलते हो! तुमसे अब दोस्ती नहीं निभेगी, म्याँ!

मैंने सुना, वह चला गया। मैं ठगा-सा जड़वत् बैठा रहा। नहीं, मैंने छिपाया नहीं। मैंने झूठ नहीं कहा। वह अक्सर मुझे ग़लत समझ लेता है। दरअसल मुझे योगमाया की उम्र का ज्ञान ठीक आज से दो दिन पहले हुआ।

उस दिन तड़के उठ गया था। खुमारी दूर करने के विचार से बाहर निकल आया तो देखा कि योगमाया फूलों की क्यारियों के बीच बैठी उन्हें साफ़ कर रही हैं। मैं चुपचाप खड़ा उनकी तन्मयता देखता रहा। उनकी पीठ मेरे सामने थी। लोन के सफेद ब्लाउज़ के अन्दर से ब्रेस की गाँठ नज़र आ रही थी। बाल खुले थे और पीठ पर छित-राये थे। मैंने झटके से अपनी नज़र फेर ली। यों नहीं देखना चाहिए। वासना जन्मती है! मैंने पाँव अपने बरामदे की ओर बढ़ा दिये। सहसा उनका स्वर सुन पड़ा—आप? मेरे पाँव रुक गए। मुड़कर मैंने देखा। योगमाया क्यारियों के बीच खड़ी थीं। सुबह की हल्की आसमानी रोशनी में उनका गेहुँआ रंग चमक रहा था। जाने क्यों मुझे बड़ा संकोच हुआ। मुझे नज़र फेरने के लिए चहारदीवारी की ओर देखना पड़ा। 'उस पर सफेद परोंवाला एक कबूतर बैठा था। योगमाया ने पूछा—बड़े तड़के उठ गए, छुट्टी के दिन?

कहकर वे चहारदीवारी पर बैठे कबूतर को बड़े चाव से देखने लगीं। मैंने उत्तर देना चाहा, मगर चुपचाप मुड़कर अपने बरामदे की सीढ़ियाँ चढ़ गया। चाय तैयार थी और नौकर मेरा इन्तज़ार कर रहा था।

मैंने चाय पी, नहाया-धोया। एक उपन्यास लिये पढ़ने के ख्याल

से बरामदे में आकर कुर्सी पर बैठ गया। पढ़ते-पढ़ते एक झटके से मेरा ध्यान टूट गया। एक कबूतर पंख फड़फड़ाता हुआ आकर झाँझर दीवार के उस बडे खाने में बैठ गया था। मुझे बहुत गुस्सा आया। मैंने उधर देखा। देखता ही रह गया।

योगमाया झाँझर दीवार की ओर पीठ किये बैठी थीं और किसी कपड़े पर फूल काढ़ रही थीं। नहा-धोकर हल्के गुलाबी नायलन की साड़ी और उसी रंग की ऊँची चोली पहने थीं। मैंने अपनी नज़र फेर ली। मुझे कुछ अजीब-सी अनुभूति हुई। मुझे अपने पर बड़ा अचरज हुआ। मेरे कानों में योगमाया के वे शब्द गूँज गये। लगभग एक सप्ताह पहले एक दिन अनायास ही योगमाया ने कहा था—सुनिए, आप भी कबूतर पाल लीजिए। उनकी गुटर-गूँ, उनका प्यार, उनकी एक-दूसरे की प्रतीक्षा बड़ी अच्छी लगती है! अकेलापन नहीं खटकता!

मुझसे नहीं झेला गया। मैं झटके से उठकर अन्दर चला गया। खाना तैयार था। खा-पीकर लेट गया। अचरज की बात हुई, मुझे नींद आ गई। शाम को पाँच बजे नींद टूटी। मगर मैं उठा नहीं। बिस्तर पर लेटा रहा। नौकर ने आकर कहा—बग़लवाली मेम साहब कह गई हैं; शाम की चाय आप वहीं पिएँगे।

अजीब-सा लगा! शाम हो गई थी। मैं उठ खड़ा हुआ। मुँह-हाथ धोया। कपड़े बदले। तैयार होकर बाहर बरामदे पर वक्त काटने के लिए चहलक़दमी करता रहा। यकायक मेरा ध्यान टूट गया। योगमाया की आवाज़ सुनाई पड़ी। वे झाँझर दीवार के पार से बोलीं—आइए न।

मैंने आवाज़ सुनी। मैंने मुड़कर उन्हें नहीं देखा। यथासंभव विरक्त रहने की कोशिश की। चुपचाप जाकर उनके बरामदे में खड़ा हो गया। अन्दर से फिर उनकी आवाज़ आयी—आइए न!

मैं अन्दर प्रवेश कर गया। जाकर उनके सामने बैठ गया। उन्होंने मेज़ पर रखी मिठाइयों से भरी तश्तरी मेरी ओर बढ़ा दी। बोलीं—लीजिए न।

मैंने एक मिठाई उठा ली। मुँह में रखकर दीवार पर टँगी तस्वीरें देखने लगा। प्यारेलाल होता तो क़िस्से छेड़ देता।

योगमाया की आवाज़ सुनाई पड़ी। झटका लगा। वे बोलीं—आप तो झेंप रहे हैं!

मैंने उनकी ओर देखा। कहा—नहीं तो!

वे ठीक मेरे सामने बैठी थीं। उनके और मेरे बीच एक मेज़ थी। मेज़ पर एक गुलदस्ते में सूरजमुखी के फूल सजाकर रखे हुए थे। वे सूरजमुखी के रंग से मिलती-जुलती पीली साड़ी और ब्लाउज़ पहने थीं। मुझे अजीब-सी अनुभूति हुई। उन्होंने मुस्कुराते हुए कहा—नहीं तो क्या? आपने तो मिठाइयाँ खायीं ही नहीं!

मैं मुश्किल में पड़ गया। मुझे एक नया अनुभव हुआ। वे मुस्कुराती हैं तो उनके सफ़ेद खूबसूरत दाँतों की ऊपरी पंक्ति चमक उठती है। मैंने अपनी नज़र हटा ली। दीवार पर फ्रेम में मढ़ी हुई एक तस्वीर की ओर इशारा करते हुए मैंने कहा—दरअसल, मैं उसे समझने की कोशिश कर रहा था।

मैं झूठ बोल गया था। मुझे अपने पर आश्चर्य हुआ। नई बात थी। तस्वीर तो मैंने कहने के बाद देखी। तस्वीर में एक पहाड़िन संध्या के समय अपने पीतवर्णी आँचल में सूरजमुखी के ढेर से फूल लिये आकाश की ओर देखती हुई खड़ी थी। योगमाया ने कहा—प्रिय की अनन्त प्रतीक्षा करती हुई एक पहाड़ी लोक-कथा की नायिका है वह!

उनका स्वर बदला हुआ था। मैंने चौंककर उनकी ओर देखा। उन पर पीली साड़ी खूब फब रही थी। लो-नेक ब्लाउज़ से गले की हँसलियों के नीचे का अंग वस्त्र के पीलेपन से गेहुँए से ज्यादा गोरा

नज़र आ रहा था। मुझे अपनी आँखों का आग्रह खुद बुरा मालूम हुआ। मैंने अपनी आँखों के आग्रह को काटने के लिए गुलदस्ते की ओर देखा। मैंने सवाल किया—आपको ये फूल बहुत पसंद हैं?

मैं गुलदस्ते पर नज़र टिकाये बैठा रहा। मुझे जाने कैसा लग रहा था। मैं औरतों के पास ज्यादा देर बैठना पसंद नहीं करता। आँखों में अनचाहे चित्र तैरने लगते हैं, मगर विवशता थी।

योगमाया ने कहा—हूँ, मुझे बहुत पसन्द हैं। आप क्यों नहीं लगाते?

औरतों के बारे में पुराणों में ठीक लिखा है। पढ़-लिख जाने से क्या होता है? मैंने योगमाया की ओर देखा। वे मुझे देख रही थीं। डूबते सूरज की रोशनी में पीले रंग की पृष्ठभूमि में उनका स्वस्थ भरा-पूरा शरीर विचित्र प्रभाव का सृजन कर रहा था। मैंने कहा—मैंने लगाया था एक बार। इसका नाम ही ग़लत है। इसने सूरज की ओर देखा ही नहीं। मैंने उखाड़कर फेंक दिया।

वे ठठाकर हँस पड़ीं। बोलीं—नाम तो सही है इसका। शायद आपका असर हो गया होगा।

मैं सुनकर अवाक रह गया। किंकर्तव्यविमूढ़ दीवार पर टँगी तस्वीरों को आँखों से टटोलता रहा। वे मेरे सामने बैठी थीं। अपनी बात कहकर मुस्कुरा रही थीं। मेरी कुछ समझ में नहीं आ रहा था। आखिर मेरा ऐसा असर सूरजमुखी के फूलों पर क्यों हुआ?

मुझे एक बात याद आ रही थी। प्यारेलाल ने एक दिन कहा था—एक दिन तुम्हें मालूम होगा म्याँ, तुम्हारे व्यक्तित्व का, तुम्हारे आचरण का मूलाधार ही मिथ्या है।

मुझे प्यारेलाल पर बहुत गुस्सा आया। वह अनाप-शनाप बकता रहता है। मैंने योगमाया की ओर देखा। वे वैसे ही मुस्कुरा रही थीं। उन्होंने उठकर रोशनी जला दी। नौकरानी चाय दे गई। उन्होंने

फिर मिठाइयों की तश्तरी मेरी ओर बढ़ाते हुए कहा—लीजिए न, आपने तो कुछ खाया ही नहीं।

उनके स्वर में अतिरिक्त आग्रह था। मैंने एक मिठाई उठाते हुए सवाल किया—क्या बात है? आज बहुत मिठाइयाँ खिला रही हैं आप?

अपने स्वरों के प्रभाव से मैं स्वयं चकित रह गया। मुझे अपने स्वर में प्यारेलाल का स्वर सुन पड़ा। वे चाय बना रही थीं। मेरा सवाल सुनकर यकायक रुक गईं। मुझे एक नया अनुभव हुआ। उनकी आँखें बहुत बड़ी-बड़ी थीं और उनमें सूरजमुखी के फूलों जैसी कातरता थी। मैंने अपनी आँखें खींचकर गुलदस्ते के फूलों पर रख दीं।

योगमाया ने तनिक देर बाद चाय का प्याला मेरी ओर बढ़ाते हुए सर्वथा नवीन और अपरिचित स्वर में कहा—हाँ, आज मेरा पैंतीसवाँ साल भी बीत गया।